''आत्महत्या के विरूद्ध'' काव्य संग्रह में अभिव्यक्त लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन

(" 'ATAMHATTYA KE VIRUDDH' KAVYA SANGRAH MEIN ABHIVAYAKT LOKTANTRIK MULYON KA PATAN")

एम.फिल् (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध

2009

शोधार्थी

बृजेश कुमार

शोध-निर्देशक

डॉ. गोबिन्द प्रसाद

सह-शोधनिर्देशक

डॉ. रामचन्द्र

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यलय

नई दिल्ली-110067

JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Center of Indian Languages
School of Languages, Literature & Cultural Studies
NEW DELHI-110067, INDIA

Date 21.07.2009

DECLARATION

I declare that the work done in this dissertation/thesis entitle **" 'ATAMHATTYA KE VIRUDDH' KAVYA SANGRAH MEIN ABHIVAYAKT LOKTANTRIK MULYON KA PATAN"** [DECLINE OF DEMOCRATIC VALUES EXPRESSED IN POETRY COLLECTION 'ATMAHATYA KE VIRUDDH'] by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University / Institution.

Brijesh Kumar

BRIJESH KUMAR
(Research Scholar)

DR. GOBIND PRASAD
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

DR. RAM CHANDRA
(Co-Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. CHAMAN LAL
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

समर्पण

पूज्य माँ के प्रति जिन्होंने जन्म और सृष्टि दी।

पूज्य पिता के प्रति जिन्होंने कर्म की प्रेरणा दी।

सौम्यरूप बहन के प्रति जिन्होंने तूफानों से लड़ना सिखाया।

पूज्य गुरूजनों के प्रति जिन्होंने दृष्टि और मौखिक अभिव्यक्ति दी।

सहृदय दोस्तों के प्रति जिन्होंने संयम और धैर्यधारण करने की क्षमता दी।

और उस गाँव के प्रति जहाँ मेरा जन्म हुआ।

भूमिका

प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध ''आत्महत्या के विरूद्ध'' काव्य संग्रह में अभिव्यक्त लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन; एम.फिल. उपाधि हेतु लिखा गया है। रघुवीर सहाय के अध्ययन के क्रम में आधुनिक युग सम्बंधी अनेक प्रश्न उपस्थित हुए थे, उन्हीं प्रश्नों में से एक प्रश्न 'आत्महत्या के विरूद्ध' काव्य संग्रह में अभिव्यक्त लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन था। इस विषय पर काम करने का सबसे बड़ा कारण यही था कि आज़ादी के 61 वर्षों के बाद भी लोकतंत्र लोकोन्मुख न बन सका और इसका तंत्र पूरी तरह से भ्रष्ट हो चुका है। राजनीति का अब विशुद्ध अर्थ-सत्ता के जरिए सम्पत्ति का संग्रहण ही रह गया है। सत्तर वाले दशक के आते-आते आर्थिक नीतियों में जो परिवर्तन होना चाहिए था वह नहीं हुआ। लोकतंत्र की गतिशीलता, लोकतांत्रिक मूल्यों की पतनशीलता में परिवर्तित हो गई। विकास का लोकतंत्री मॉडल सफल नहीं हो पाया। स्वतंत्र भारत में लोकतंत्र के लोकतांत्रिक मूल्यों (स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय आदि) का पतन अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुँच गया है। आजाद जनता प्रबुद्ध नागरिक बनने की प्रक्रिया में नहीं अपितु 'हत्या' और 'आत्महत्या' करने की प्रक्रिया में हैं। रघुवीर सहाय की कविताएँ इसी 'हत्या' और 'आत्महत्या' के विरोध में हैं। रघुवीर सहाय एक ऐसे कवि थे जो लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण के लिए जीवनपर्यन्त संघर्षरत रहे। वह प्रगतिशील व्यष्टिबोध की धारा 'नई कविता' के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। महत्वपूर्ण इस अर्थ में कि वह हमेशा सामाजिक यथार्थ और

राजनैतिक यथार्थ के प्रति सजग रहे हैं। रघुवीर सहाय का व्यक्तित्व बहुआयामी था। वह एक पत्रकार, कवि कहानीकार, नाटककार, अनुवादक, विचारक इत्यादि के रूप में प्रख्यात रहे हैं।

रघुवीर सहाय की कविता, व्यक्ति, समाज, देश, राजनीति इत्यादि का लोकतांत्रिक मूल्यों के संदर्भ में, विश्लेषण करती है। रघुवीर सहाय ने इस देश में तिल-तिल कर मरते हुए गरीब, मेहनतकश मजदूर, मध्यमवर्ग इत्यादि का चित्रण अपनी कविताओं में किया है। उनकी कविताएँ शोषण के विरूद्ध संघर्ष की अभिव्यक्ति है। उन्होंने लोकतंत्र को उसका असली चेहरा दिखाया, उसे उसका अंतिम क्षण दिखाया। उसके अन्तर्विरोधों, विडम्बनाओं, विसंगतियों इत्यादि को जनता के समक्ष खोल कर रख दिया। लोकतांत्रिक राजनीति के समक्ष जनता की मूक अभिव्यक्ति को मौखिक अभिव्यक्ति में परिवर्तित करने के लिए एक बहुत बड़ा ज़िगर चाहिए और वह ज़िगर रघुवीर सहाय में था। वर्तमान समय में अपराध संगठित है, राजनीति संगठित है किन्तु सत्ता के विरूद्ध जो बोला, वह अकेला है। रघुवीर सहाय के इसी अकेलेपन से मैं बहुत प्रभावित हुआ क्योंकि उनका यह अकेलापन समाजसापेक्ष था। और यह समाज सापेक्ष अभिव्यक्ति परोक्ष नहीं बल्कि प्रत्यक्ष रूप से थी। रघुवीर सहाय ने यथार्थ को समझने की एक नई दृष्टि विकसित की। यह अपने आप में एकदम नई सोच थी जो उन्हें अन्य कवियों से पृथक करती है। उन्होंने यथार्थ को यथास्थिति नहीं माना बल्कि उसे मानवीय सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकित किया। दूसरी महत्वपूर्ण बात जो उभरकर सामने आती है वह दलगत राजनीतिक प्रतिबद्धता या

प्रतिकार की। यह बात चौका देने वाली थी कि बिना दलगत राजनीतिक प्रतिबद्धता के एक प्रखर राजनीतिक दृष्टि की अभिव्यक्ति करना। यह प्रखर राजनीतिक दृष्ट भी उन्हें अन्य महत्वपूर्ण कवियों धूमिल, नागार्जुन, मुक्तिबोध से बिल्कुल अलग एक नई भाव भूमि पर प्रतिष्ठित करती है। ठीक इसी प्रकार उन्होंने काव्य-भाषा का एक नया साँचा भी निर्मित किया, जिसमें परम्परागत काव्य उपकरणों का निषेध था। उपर्युक्त तथ्य, ये वे तथ्य थे जिनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहा जा सकता था। साहित्य जगत् को उन्होंने यही नई सृष्टि और दृष्टि दी। बस इस इसी नई सृष्टि और दृष्टि को पकड़ना मेरा ध्येय (लक्ष्य) रहा है।

अध्ययन की सुविधा के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध को चार अध्यायों में बाँटा गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्तर्गत उप-अध्यायों का विधान भी रखा गया है।

पहले अध्याय के अन्तर्गत उप-अध्यायों का विधान रखा गया है। जिनमें दूसरा सप्तक, सीढ़ियों पर धूप में, आत्महत्या के विरूद्ध, हँसो हँसो जल्दी हँसो, लोग भूल गए हैं, कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ, एक समय था आदि के दौर में कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण किया गया है। और अंत में निष्कर्ष दिया गया है। काव्य चेतना का क्रमिक विकास और इस क्रमिक विकास में युग की तत्कालीन परिस्थितियों का योगदान तथा उनकी कविताओं में निहित कथ्य का विश्लेषण किया गया है। काव्य कृतियों का मूल्यांकन भी इसी अध्याय के अंतर्गत किया गया है।

दूसरे अध्याय के अन्तर्गत भी उप-अध्यायों का विधान रखा गया है जिनमें लोकतंत्र की अवधारणा, मूल्य की अवधारणा और लोकतांत्रिक मूल्य, रघुवीर सहाय

की वैचारिक दृष्टि और लोकतांत्रिक मूल्य इत्यादि का विश्लेषण किया गया है और अंत में निष्कर्ष दिया गया है। रघुवीर सहाय की वैचारिक दृष्टि, लोकतंत्र तथा लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति क्या है? इसका विवेचन किया गया है। लोकतंत्र के वास्तविक मूल्य क्या हैं? इसका भी विवेचन किया है। लोकतांत्रिक मूल्यों के पतन में किन कारकों का योगदान है? इसको भी विश्लेषित किया गया है।

तीसरे अध्याय के अन्तर्गत भी उप-अध्यायों का विधान रखा गया है। 'हत्या' और 'आत्महत्या' में अन्तर, लोकतांत्रिक मूल्यों के संदर्भ में 'हत्या' और 'आत्महत्या', आत्महत्या के विरूद्ध में अभिव्यक्त लोकतांत्रिक मूल्य आदि का विश्लेषण किया गया है। सामाजिक विद्रूपताओं एवं राजनीतिक विद्रूपताओं का मूल्यांकन लोकतांत्रिक मूल्यों के आलोक में किया गया है। रघुवीर सहाय की मूल संवेदना किस स्तर पर जनतंत्र से प्रभावित होती है? इसका भी विवेचन-विश्लेषण किया गया है।

चौथे अध्याय के अन्तर्गत भी उप-अध्यायों का विधान रखा गया है। जिनमें सामान्य-भाषा और काव्य भाषा में अन्तर, रघुवीर सहाय की काव्य भाषा विषयक मान्यताएँ, काव्य भाषा का नया साँचा, लोकतांत्रिक मूल्यों के संदर्भ में आदि का विश्लेषण किया गया है। और अंत में निष्कर्ष दिया गया है। रघुवीर सहाय लोकतांत्रिक मूल्यों को भाषा के माध्यम से किस प्रकार व्यक्त करते हैं? इसका विवेचन-विश्लेषण किया गया है।

कर्त्तव्यबोध एंवं विषय के प्रति निष्ठा व्यक्ति को एक नई भाव-भूमि पर पहुँचा देता है जहाँ मम् और ममेत्तर का सम्बंध नहीं रह जाता, केवल लक्ष्य के प्रति समर्पण

रहता है। लक्ष्य के प्रति समर्पण की भावना यही कहती है कि मैं आपने गुरूजनों का आभार प्रकट करूँ जिन्होंने अपना व्यस्तम समय निकालते हुए मेरा उचित मार्गदर्शन किया। उचित मार्गदर्शन और उचित सुझावों से यह लघु शोध-कार्य अपनी परिपूर्णता तक पहुँच सका है। मैं विशेष रूप से डॉ. गोबिन्द प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली और डॉ. रामचन्द्र जी, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली दोनों ही आदरणीय विद्वानों का स्नेह समर्पित आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने मेरा ज्ञान समृद्ध किया। अपने उन सभी मित्रों का धन्यवाद जिन्होंने प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शोधकार्य सम्पन्न हेतु सहयोग और प्रेरणा दी।

मैं कम्प्यूटर शब्द संसाधन के लिए श्री प्रदीप कुमार और उदय कुमार सिंह का भी तहेदिल से धन्यवाद देना चाहूँगा जिन्होंने पूर्ण तत्परता और लगन के साथ इस लघु-शोध कार्य को उसके मंजिल तक पहुँचाया।

यह मेरा मौलिक कार्य है। उम्मीद है आने वाले शोद्यार्थी इससे जरूर लाभान्वित होंगे। यदि किसी भी प्रकार की त्रुटि पाई जाती है तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

-बृजेश कुमार

अनुक्रमणिका

		पृ. सं.
भूमिका		i-v
अध्याय-1	: रघुवीर सहाय का काव्य-व्यक्तित्व	1-62
अध्याय-2	: रघुवीर सहाय की वैचारिक दृष्टि और लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन	63-106
अध्याय-3	: 'आत्महत्या के विरूद्ध' और लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन	107-122
अध्याय-4	: लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन और काव्य-भाषा का नया साँचा	123-146
उपसंहार		147-148
संदर्भ-ग्रंथ सूची		149-154

अध्याय-1

रघुवीर सहाय का काव्य-व्यक्तित्व

उप-अध्याय

(क) रघुवीर सहाय का संक्षिप्त जीवन-परिचय एवं काव्य विषयक उनकी मान्यताएँ

(ख) 'दूसरा सप्तक' (1951) के दौर में कवि का काव्य-व्यक्तित्व

(ग) 'सीढ़ियों पर धूप में' (1960) के दौर में कवि का काव्य-व्यक्तित्व

(घ) 'आत्महत्या के विरूद्ध' (1967) के दौर मे कवि का काव्य-व्यक्तित्व

(ङ) 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' (1975) के दौर में कवि का काव्य-व्यक्तित्व

(च) 'लोग भूल गए हैं' (1982) के दौर में कवि का काव्य-व्यक्तित्व

(छ) 'कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ' (1989) के दौर में कवि का काव्य-व्यक्तित्व

(ज) 'एक समय था' (1995) के दौर में कवि का काव्य-व्यक्तित्व

(झ) निष्कर्ष

अध्याय 1

रघुवीर सहाय का काव्य-व्यक्तित्व

उप-अध्याय (क) : रघुवीर सहाय का संक्षिप्त जीवन-परिचय एवं काव्यविषयक उनकी मान्यताएँ।

रघुवीर सहाय आधुनिक हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत आने वाली प्रगतिशील व्यष्टिबोध की धारा 'नई कविता' के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। वे बहुआयामी प्रतिभासम्पन्न रचनाकार हैं। साहित्य की लगभग सभी विधाओं जैसे-कविता, कहानी, उपन्याास, निबन्ध, नाटक, यात्राएँ, बाल साहित्य, डायरी, अनुवाद इत्यादि पर उन्होंने लेखन कार्य किया है। पत्रकारिता जगत को उन्होंने व्यवसाय के रूप में अपनाया था। वहीं दूसरी तरफ काव्य को कवि-कर्म के रूप में स्वीकृति देकर लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण के लिए संघर्षरत रहे। पत्रकार के रूप में उन्होंने सीमित दायित्वों का निर्वाह किया, किन्तु एक कवि के रूप में वह विश्वजनमानस पर अपनी अमिट छाप छोड़ गए। सीमित दायित्वों का निर्वाह करने के कारण वह पत्रकार के रूप में कम तथा कवि के रूप में ज्यादा विख्यात रहे। पत्रकार के रूप में उन्होंने यदि सत्य की खोज की तो कवि के रूप में सत्यान्वेषण का कार्य किया। यदि पत्रकारिता जगत ने उन्हें लोकतंत्र का सजग प्रहरी एवं स्वप्नदर्शी बनाया तो काव्य ने उन्हें मोहभंग और स्वप्नभंग का यथार्थजीवी। कवि के रूप में रघुवीर सहाय अपने आपको संपूर्णता में अभिव्यक्त कर पाते हैं। अर्थात् कवि कर्म को बखूबी निभा पाते हैं, जबकि एक पत्रकार के रूप में वह अपने दायित्वों को खण्डों में बँटा पाते हैं। पत्रकारी व्यक्तित्व का कवि व्यक्तित्व से कोई विरोध नहीं है, बल्कि अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं, किन्तु एक कवि के रूप में वह अपने अनुभव को, यर्थाथ को संकीर्णत में नहीं संपूर्णता में अभिव्यक्त कर पाते हैं। अतः उनका कवि पक्ष अधिक विराट एवं विशिष्ट है। रघुवीर सहाय के कवि पक्ष की यह विराटता कबीर, भारतेन्दु, निराला, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र, मुक्तिबोध, त्रिलोचन, धूमिल जैसे जनवादी कवियों की काव्य विराटता से मेल

खाता है, किन्तु इनकी परम्परा का अनुकरण रघुवीर सहाय ने कभी नहीं किया। मार्क्सवाद का प्रभाव रघुवीर सहाय पर आंशिक रूप से पड़ा लेकिर यह प्रभाव केवल सैद्धांतिक स्तर पर ही रहा। व्यवहारिक स्तर पर लोहिया के समाजवाद का प्रभाव पड़ा। वैचारिक स्तर पर स्वामीदयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, गोखले, तिलक, गाँधी ही छाए रहे। रघुवीर सहाय का जीवन-काल स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व तथा स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद का है। रघुवीर सहाय का जीवन लम्बा है, क्योंकि उनकी दुनिया बहुत बड़ी है। रघुवीर सहाय इस बात की स्वीकृति निम्न पंक्तियों के द्वारा देते हैं-''यह दुनियां बहुत बड़ी है, जीवन लम्बा है।''[1]

जितनी बड़ी दुनिया होगी उतना ही बड़ा कवि होगा और इस लम्बे जीवन में कवि के अनुभवों की एक लम्बी श्रृंखला होगी। कवि को लगेगा कि वह अकेला है किन्तु कवि का यह भाव-बोध समाज सापेक्ष होगा। अस्तित्ववादियों के वाद का आभास होगा किन्तु सामाजिक यथार्थ का प्रकाश वहाँ मौजूद रहेगा।

कविता पर विचार करते समय काव्य-विद्वान या आलोचक बार-बार यह बात उठाते हैं कि काव्य में कवि का व्यक्तित्व मुखर होता है या नहीं? यहाँ यह बात ध्यात्व है कि काव्य में कवि का व्यक्तित्व गौण नहीं, बल्कि प्रमुख रूप में उभरता है। काव्य में कवि के व्यक्तित्व की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। काव्य को व्यक्तित्व से अलगाया नहीं जा सकता। कल्पनामिश्रित अभिव्यक्ति जिसमें विचार एवं भावों का संयोग होता है उसे 'काव्य' कहते हैं। तथा काव्य रचना में अनुभव को अभिव्यक्त करने की कला ही 'काव्य व्यक्तित्व' है। भामह के लिए यदि काव्य शब्द और अर्थ का सहित भाव था, तो विश्वनाथ के लिए रस से परिपूर्ण वाक्य ही काव्य था। वहीं दूसरी तरफ प्लेटो ने यदि काव्य को उत्तेजक माना तो अरस्तु ने विरेचक माना था।यदि इलियट के लिए कविता व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नही बल्कि व्यक्तित्व से पलायन थी, तो शिपले ने अपने ग्रंथ ''डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेचर'' में इसका खंडन किया और कहा कि

---

[1] रघुवीर सहाय, यह दुनिया बहुत बड़ी है जीवन लम्बा है (शंतजीव शीर्षक) रघुवीर सहाय रचनावली-I, पृ. 506, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2000

कवि की प्रकृति, अभिरूचियों तथा बाह्य परिवेश-परिवार, सत्ता, समाज, राजनीति, संस्कृति इत्यादि का योग ही व्यक्तित्व है। अत: यह कहा जा सकता है कि काव्य की कोई एक सर्वमान्य परिभाषा एवं लक्षण निश्चित नहीं किए जा सकते। क्योंकि हर युग में कवि के व्यक्तित्व का प्रकाशन जिन रूपों में अभिव्यक्त हुआ, उन्हीं रूपों में काव्य की परिभाषा, लक्षण एवं दृष्टिकोण निर्मित हुए।

स्वयं रघुवीर सहाय की दृष्टि में 'काव्य' जीवन सापेक्ष होता है। उसकी एक जिन्दगी होती है और वह एक लम्बे जीवन का अनुभव होता है। अर्थात एक लम्बे जीवन का अनुभव कविता में अभिव्यक्त होता है। और यह अभिव्यक्ति ही कवि के व्यक्तित्व की छाप है। रघुवीर सहाय इसकी स्वीकृति निम्न पंक्तियों से देते हैं-

''कविता के अमरत्व में मेरा विश्वास नहीं है किन्तु कविता लिखी जाने के बाद अपनी एक जिन्दगी जीती है और कभी-कभी वह काफी लम्बी भी हो सकती है।''[2]

कविता के जीवन के बारे में कवि की यह धारणा है कि कविता अमर नहीं होती अर्थात् हर युग में नई संवेदना के साथ परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ नए विचारों को ग्रहण किए हुए नई कविता आती है। किसी एक युग की कविता दूसरे युग में वही स्थान नहीं पाती जो उसने अपने युग या समय में पाए थे। अर्थात् कविता अमर नहीं बल्कि मर्त्य होती है। वह उसी समय तक जीवित रहती है, जब तक कवि उसको लिख रहा होता है। कविता अंतिम रूप से लिखी जाने के बाद मर जाती है क्योंकि उसमें हम कुछ नया जोड़ नहीं सकते। अत: उसकी एक जिन्दगी होती है और उसमें हम न तो नया जोड़ सकते हैं और न कुछ पुराना हटा सकते हैं। 'लिखने का कारण' पुस्तक में रघुवीर सहाय स्वयं इस बात को इंगित करते हैं-''खुद कविता अमर नहीं होती : कविता तो इस जीवन में शायद सबसे अधिक मर्त्य है। वह हुई नहीं की मरी...

---

2 रघुवीर सहाय 'आत्महत्या के विरूद्ध' द्वितीय संस्करण की भूमिका, मई-1976, पृ. 105, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2000

वह न जाने कैसा कवि होगा जो अपनी कविता को लेकर लगातार जी सकता होगा।''[3]

रघुवीर सहाय की दृष्टि में सृजन करना अपने आप में एक निर्मिति है, स्वानुभूति है जीवनबोध एवं व्यक्तित्व की छाप है तथा स्वयं का विसर्जन है। वह स्वयं लेखनक्रिया को एक तरह का 'आत्महनन' मानते हैं, जो स्वयं का विसर्जन करने से निर्मित होता है। स्वयं रघुवीर सहाय के शब्दों में-''सबसे बड़ा आत्महनन जो किया जा सकता है वह है ''लिखना''। अब हम कैसे बताएँ कि लिखना कितना बड़ा दर्द है, कितना बड़ा त्याग है। बताना मुश्किल है क्योंकि वह कई ऐसी वस्तुओं का त्याग है जिन्हें साधारणतया कोई महत्व नहीं दिया जाता।[4] कवि लेखन क्रिया के क्षणों में अत्याधिक बेचैन होता है। उसके लिए सृजनशीलता एक बहुत बड़ा दर्द है।

लेखन क्रिया या सृजनशीलता एक व्यक्ति के स्तर पर आत्मपरक होती है किन्तु समान्य के स्तर पर वह वस्तुपरक हो जाती है। रघुवीर सहाय आत्मपरक या वस्तुपरक दृष्टि से सृजनशीलता को नहीं देखते हैं। केवल आत्मपरक या केवल वस्तुपरक दृष्टि से सृजनशीलता को देखना अपना दृष्टिकोण एकांगी एवं सीमित करना है। रघुवीर सहाय सृजनशीलता को उसकी समग्रतया संपूर्णता में देखते हैं। इस प्रकार सृजनशीलता अपने आप में आत्मपरक एवं वस्तुपरक का द्वन्द्व होती है। रघुवीर सहाय की सृजनशीलता समस्याओं को नए ढंग से हल करने वाली सृजनशीलता नहीं बल्कि विकल्प का मार्ग प्रस्तुत करने वाली सृजनशीलता है। रघुवीर सहाय की सृजनशीलता द्वन्द्वदात्मक न होकर सहजात्मक है। अर्थात् जो वस्तु जैसी है, उसका उसी रूप में चित्रण करना। यह सहजात्मकता एक स्तर पर जाकर प्रतिरोधात्मक स्वर में परिवर्तित हो जाता है।

रघुवीर सहाय का काव्य उनके व्यक्तित्व से अलग नहीं है। रघुवीर सहाय के काव्य-व्यक्तितव ने आज नई कविता को एक नया अर्थ और नया परिप्रेक्ष्य दिया है। नए अर्थ में दो अर्थ का भय नहीं होगा तथा नए परिप्रेक्ष्य में लोकतंत्रीय विश्व मानव-बोध

---

3 रघुवीर सहाय, 'लिखने का कारण' पृ.-13, राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2000

4 रघुवीर सहाय, 'यथार्थ यथास्थिति नहीं', संपादक डॉ. सुरेश शर्मा, पृ. 25, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1994

होगा। उन्होंने संभावनाओं की नहीं सीमाओं की बात तय की है। सीमाओं की यह बात राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक इत्यादि क्षेत्रों पर लागू होती है। उनके सम्पूर्ण काव्य को उनके व्यक्तितव के संदर्भ में ही विवेचित किया जा सकता है। रघुवीर सहाय के जीवन ने उनके काव्य को निर्मित किया है। और यह निर्मिति उनके अनुभवों पर आधारित है। और इस अनुभव में होता है आम आदमी और उसका लोकतंत्र। यह वह लोकतंत्र नहीं है जिसकी परिकल्पना अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने कीथी। और कहा था कि लोकतंत्र- Government of the People, by the People, for the People" है।[5]

अर्थात् लोकतंत्र जनका का, जनता द्वारा और जनता के लिए शासन है। आधुनिक पूँजीवादी युग में आकर यह परिभाषा बिल्कुल बदल गई हैं। ''किसी ने लिंकन की उस उक्ति की पेरोडी ऐसे की थी-'For the People, off the people and buy the people' हो गया है। अर्थात् जनता से दूर, जनता को छोड़कर और जनता द्वारा खरीदी जाने वाली व्यवस्था।''[6]

अर्थात् इस समय को लोकतंत्र सच्चा व स्वार्थरहित न होकर दिखावटी एवं अलोकतांत्रिक हो गया है।

इस कृति-व्यक्तितव का जन्म 9 दिसम्बर 1929 ई. के उत्तरप्रदेश के लखनऊ जिले के अन्तर्गत आने वाले मॉडल हाऊस मुहल्ले में हुआ था। इनकी माँ, श्रीमति तारादेवी ठाकुर रामेश्वरबख्श की ज्येष्ठ पुत्री थीं और पिता हरदेव सहाय 'ब्वाय एंग्लो बंगाली स्कूल' में साहित्य के अध्यापक थे। सन् 1931 ई में यक्ष्मा से पीड़ित माँ श्रीमति तारादेवी का निधन हो गया। सन् 1938 में पिता श्री हरदेव सहाय ने दूसरा विवाह किया। श्री हरदेव सहाय के व्यक्तित्व में अन्तर्निहित निडरता, एकनिष्ठता, सत्यवादिता का प्रभाव रघुवीर सहाय के ऊपर भी पड़ा। पितामह लक्ष्मीसहाय की छत्रछाया में रघुवीर सहाय की प्रारम्भिक चेतना विकसित होती रही। पितामह लक्ष्मीसहाय पर कांग्रेस व

---

5 अब्राहम लिंकन (1861-1865), अमेरिका के 16वें राष्ट्रपति पद पर आसीन होने के बाद दिए गए भाषण से उद्धृत पंक्ति।

6 विष्णु प्रभाकर : गाँधी समय समाज और संस्कृति, पृ.-9, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2000

आर्यसमाज के विचारों का प्रभाव था। अत: रघुवीर के व्यक्तित्व में यदि एक तरफ पिता हरदेव सहाय से प्राप्त निडरता, एकनिष्ठता, स्पष्टवादिता है तो वहीं दूसरी तरफ पितामह से प्राप्त समाजसेवा का भाव है।

रघुवीर सहाय का बचपन लखनऊ, इलाहाबाद, बाराबंकी, फैजाबाद आदि क्षेत्रों के आस-पास ही व्यतीत हुआ। रघुवीर सहाय की प्रारम्भिक शिक्षा की शुरूआत 'लखनऊ प्रीपरेटरी स्कूल' मे हुई, जहाँ उनका पहले दर्जे में दाखिला हुआ था। सन् 1938 में दोहरी तरक्की से चौथे दर्जे में 'ब्वाय एंग्लो बंगाली स्कूल' में दाखिला हुआ।

शिक्षा के क्षेत्र में अध्ययनरत रहने के परिणामस्वरूप सन् 1944 ई. में मैट्रिक, 1946 ई. में इंटर (बारहवीं), 1948 ई. में बी.ए. एवं साहित्य विशारद तथा सन् 1951 ई. में लखनऊ विश्वविद्यालय से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की।

प्रत्येक पिता अपने पुत्र को ऐसा व्यक्तित्व देना चाहता है जो उसके पुत्र को समाज में प्रतिष्ठित कर सके। रघुवीर सहाय के पिता ने भी उन्हें एक साहित्यकार का व्यक्तित्व दिया और इस साहित्यिक प्रतिष्ठा में निश्चय ही निरन्तर बढ़ोत्तरी होती गई।

रघुवीर सहाय बचपन से ही ज्ञानार्जन के लिए उत्सुक एवं प्रयत्नशील रहे हैं। उनकी यही ज्ञान अर्जित करने की इच्छा और दृढ़ संकल्प उन्हें बौद्धिक विमर्श एवं सामाजिक हलचलों के प्रवर वातावरण में खींच लाई।

रघुवीर सहाय का लेखन सन् 1946 ई. से प्रारम्भ हुआ और जीवनान्त चलता रहा। सन् 1946 ई. में रघुवीर सहाय ने अपनी डायरी में सर्वप्रथम 'अंत का प्रारम्भ' और तत्पश्चात् 'कामना' नामक कविता लिखी। लेकिन यह कविताएँ उस समय किसी पत्रिका में प्रकाशित नहीु हुई थीं। 'अंत का प्रारम्भ' नामक कविता लिखकर साहित्य के प्रांगण में उन्होंने पहला कदम कवि के रूप में रखा। और इस अंत के प्रारम्भिक दौर ने ही उन्हें कवि बनाया:

''दीख पड़ता मृत्यु का केवल प्रकाश स्तम्भ है यह
अंत का प्रारम्भ है यह''[7]

रघुवीर सहाय मूलत: कवि के रूप में ज्यादा प्रख्यात हैं। उनका कवि व्यक्तित्व

---

7 रघुवीर सहाय, प्रतिनिधि कविताएँ, सं-सुरेश शर्मा, पृ. 14, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपरबैक संस्करण-2006

उनकी सभी विधाओं में द्रष्टव्य हे। हिन्दी की नवउन्मेषमयी काव्य चेतना में नवीन जीवन मूल्यों में टूटती परम्पराओं में, जीवन की समग्रता में, जीवन के हर्ष-विषाद में, राग-विराग में, आसक्ति-अनासक्ति में, मानव जीवन की विडम्बना में, अदम्य जिजीविषा के सौंदर्य में, भूखी नंगी जनता की परेशानियों में, चारों ओर फैली भयावह स्थितियों में तथा तथा लोकतंत्र के अंतिम क्षण में रघुवीर सहाय का नाम एक सुपठित एवं सुविख्यात कवि के रूप में लिया जाता है।

रघुवीर सहाय का काव्य हरिवंशराय बच्चन के हालावद में, लोहिया के समाजवाद में, एम. फार्स्टर के प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन में, निरालाकृत 'राम की शक्ति पूजा' में, अज्ञेय के दूसरे तारसप्तक में मुक्तिबोध के अँधेरे समाज में मौजूद उस गतिशील अनुभवजन्य सामाजिक यथार्थ की कड़ी है जिसको पतनमयी पूँजीवद ने अपने आगोश में ले लिया है। रघुवीर सहाय का काव्य स्वामी दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द गोखले, तिलक, गाँधी, नेहरू इत्यादि जैसे महापुरुषों के देश में एक ऐसे लोकतंत्रीय संसार की रचना करता है जिसमें तंत्र तो है किन्तु लोक नहीं है। रघुवीर सहाय का काल स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व तथा स्वतंत्रीता प्राप्ति के बाद का है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के दौर सन् 1947 ई. में उन्होंने 'आदिम संगीत' नामक कविता लिखी जो आजकल के अगस्त अंक में तथा सन! 1948 ई. में पहली मुक्त छंद की कविता 'नया वर्ष' लिखी जो 'काव्यकुब्ज' नामक कॉलिज पत्रिका में छपी थी, तथा इसी वर्ष उनकी एक लम्बी कविता 'सायंकाल' अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'प्रतीक नामक त्रैमासिक पत्रिका में छपी। और इसी वर्ष 'दूसरे सप्तक' के प्रकाशन के लिए रघुवीर सहाय ने अज्ञेय जी को कुछ कविताएँ दीं। प्रथम तारसप्तक सन् 1943 के प्रकाशन से ही रघुवीर सहाय की बौद्धिक चेतना प्रखर हो उठी थी और उसके बाद उन्होंने जो नई काव्य-चेतना अनुभव की उसकी अभिव्यक्ति अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'दूसरा सप्तक' जो सन् 1951 ई. में प्रकाशित हुआ था, उसमें स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। इसमें अन्य छः कवियों के साथ उनकी कुल 14 कविताएँ प्रकाशित हुई थीं। यह काव्य-चेतना कविता की जड़ को यथार्थ में खोजने की चेतना थी। और इसी क्रम में अर्थात् यथार्थ

को खोजने की चेतना ने ही उनके व्यक्तित्व को दो रूपों में विभाजित कर दिया- पहला साहित्यकार के रूप में तथा दूसरा पत्रकार के रूप में।

साहित्यकार के रूप में उन्होंने अपना पहला दायित्व कवि के रूप में निभाया। उन्हें यह अनुभव हुआ कि कविता ही वह प्रमुख माध्यम है जिससे एक 'आम आदमी' के हृदय से यथार्थवादी रागात्मक संबंध बनाया जा सकता है। और यह यथार्थवादी रागात्मक सम्बंध सामाजिक वर्जनाओं की देन होती है। जब एक 'आम आदमी' का अनुभवजन्य यथार्थ संवेदना में परिवर्तित होकर दूसरे व्यक्ति को चिंता नहीं बलिक चिंतन के धरातल पर ले जाता है, तो इसे ही दूसरा व्यक्ति सामाजिक वर्जनाओं के परिप्रेक्ष्य में समस्याओं की जाँच-पड़ताल करता है तो इसे ही यथार्थवादी रागात्मक सम्बंध कहते हैं।

रघुवीर सहाय का पहला साहित्यिक संग्रह 'सीढ़ियों पर धूप में' (कहानियाँ, कविताएँ, लेख) सन् 1960 ई. में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात 'आत्महत्या के विरूद्ध' (1967) काव्य संग्रह, 'रास्ता इधर से है' (1972) कहानी संग्रह, 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' (1975) काव्य संग्रह, 'दिल्ली मेरा परदेश' (1976) निबन्ध संग्रह, 'लिखने का कारण' (1978) निबन्ध संग्रह, 'लोक भूल गए हैं' (1982) काव्य संग्रह, 'ऊबे हुए सुखी एवं वे और नहीं होंगे जो मारे जाएँगे' (1983) निबन्ध संग्रह, 'यथार्थ यथास्थिति नहीं (1984) निबन्ध संग्रह, 'कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ' (1989) काव्य संग्रह, 'अर्थात्' (1994) (मरणोपरांत) निबन्ध संग्रह, 'एक समय था' (1995) (मरणोपरांत) काव्य संग्रह।

रघुवीर सहाय ने एक पत्रकार के रूप में व्यवस्थित रूप से पत्रकारिता की शुरूआत सन् 1949 ई. से की। वह दिसम्बर 1949 से फरवरी 1950 तक लखनऊ से निकलने वाले दैनिक समाचार पत्र 'नवजीवन' के उपसम्पादक रहे। इसके उपरान्त वह मई 1951 में प्रतीक के सहायक सम्पादक, मई 1953 में आकाशवाणी के हिन्दी समाचार विभाग में उपसंपादक, फरवरी 1958 में 'एशिया थिएटर इंस्टीट्यूट' में रिसर्च ऑफिसर, मार्च 1959 में अज्ञेय द्वारा सम्पादित वाक् पत्रिका के सहायक सम्पादक

जनवरी 1970 में दिनमान के सहायक सम्पादक, मार्च 1983 में नवभारत टाइम्स के सहायक सम्पादक रहे।

बहरहाल पत्रकारी व्यक्तित्व का कवि व्यक्तित्व से किसी भी प्रकार का कोई भी विरोध नहीं है। दोनों एक दूसरे के संपूरक हैं। दोनों एक साथ मिलने पर यथार्थ की समझ को विस्तृत बनाते हैं। पत्रकार और कवि के रूप में वह अपने सामाजिक अनुभव की पीड़ा को बाँटकर देखना नहीं चाहते क्योंकि उन्होंने दोनों ही रूपों में सामाजिक पीड़ा की अनुभूति एक सी की है। इस बात की स्वीकृति वह निम्न पंक्तियों से देते हैं-

"अलग अलग डिब्बों में मेरी
पीड़ाएँ मत बन्द कीजिए
जिन्हें एक में मिला-जुलाकर
मैंने की थी ये रचनाएँ।"[8]

साहित्यकार और पत्रकार दोनों ही मानव संबंधों की तलाश किन्हीं दो मनुष्यों के बीच में करते हैं। पत्रकार और कवि के रूप में अनुभव एवं अनुभूति तो एक सी है किन्तु दायित्वों में अन्तर है। पत्रकारिता जगत ने उनके दायित्वों को सीमित एवं सत्ता के प्रति जवाबदेह प्रहरी बनाया तो वहीं कवि-जगत ने उनके दायित्वों को व्यापक एवं जन और समाज के प्रति जवाबदेह। यदि पत्रकारिता जगत ने उन्हें संघर्ष के अनुभव दिए तो वहीं दूसरी तरफ काव्य-जगत ने उन्हें अद्वितीय संवेदनात्मक अभिव्यक्ति की यथार्थ जमीन दी। रघुवीर सहाय के ही शब्दों में-"पत्रकार और साहितयकार में कोई अन्तर है क्या? मैं मानता हूँ कि नहीं है।"[9]

डॉ. सुरेश शर्मा के शब्दों में-"अपने इसी विलक्षण व्यक्तित्व के कारण रघुवीर सहाय ने रचना के लिए यथार्थ की नई समझ विकसित की।"[10]

---

8 रघुवीर सहाय, कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ (समाधि-लेख) : पृ. 77, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1989

9 रघुवीर सहाय, यथार्थ यथास्थिति नहीं, सम्पादक-डॉ. सुरेश शर्मा, पृ. 94, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2000

10 सुरेश शर्मा, प्रस्तावना, रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-1, पृ. 10, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2000

रघुवीर सहाय एक ऐसे व्यक्तित्व के लिए सदैव याद किए जाएँगे जिसने जीवन और जगत् में जो अनुभव किया, उसकी अभिव्यक्ति उसी महानतम ढंग से की। अर्थात् उनकी जो कथनी थी, वही उनकी कविता में करनी के रूप में अभिव्यक्त हुई।

रघुवीर सहाय का काव्य-व्यक्तित्व उनके व्यक्तिगत जीवन से अलग नहीं है। रघुवीर सहाय का व्यक्तित्व (बहिर्मुखी+अन्तर्मुखी) काव्य में एक मानसिक प्रक्रिया (Mental Process) के अन्तर्गत अभिव्यक्त हुआ है। अर्थात् उनके बाह्य : व्यक्तित्व (जन्म, शिक्षा, संस्कार, परिवेश इत्यादि) ने उनके आंतरिक व्यक्तित्व को अनुभूतियाँ दीं। और इन अनुभूतियों ने विभिन्न परिस्थितियों में विचारों को प्रगति दी, जिसके परिणामस्वरूप विचारों के क्रियात्मक रूप एवं भावनाओं में संतुलन स्थापित हुआ। व्यक्ति इन विचारों और भावनाओं को दबाकर नहीं रख सकता। अत: यह एक मानसिक प्रक्रिया के तहत विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति साहित्य की विभिन्न विधाओं (कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास इत्यादि) के रूप में की। लेकिन यह केवल परिष्कार की एक मनौवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है अपितु यह तो एक भावात्मक और बौद्धिक प्रक्रिया है। क्योंकि जिन अनुभूतियों या संवेदनाओं का निर्माण कवि कर रहा है वह व्यक्ति की देन न होकर सामाजिक परिस्थितियों की देन है। लेखक या कवि का व्यक्तित्व सामाजिक परिस्थितियों की देन है।

मुक्तिबोध ने भी यह माना है कि समाजसापेक्ष व्यक्तिगत जीवन अनुभव साहित्य में अवश्य प्रकट होता है। मुक्तिबोध के शब्दों में: "लेखक के व्यक्तित्व की इस सामाजिक अंश का विकास तभी संभव है जब वह उन युगान्तकारी घटनाओं की प्रक्रिया में व्यक्तिगत रूप से भाग लेकर उन अनुभवों की संवेदना-ग्रंथि को धारण करते हुए साहित्य में उसको खोल दे।"[11]

रघुवीर सहाय की समाकलीन कवयित्री शकुन्त माथुर ने भी यही माना है कि कविता जीवन की वास्तविक परिस्थितियों एवं वातावरण का उपज होती है-

---

[11] मुक्तिबोध, मुक्तिबोध रचनावली-4, संपादक-नेमिचन्द जैन, सं 1986, पृ. 17, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-1986

''कविता जीवित हो, अर्थात् वह जीवन के वास्तविक वातावरण और परिस्थितियों की ज़मीन पर जन्म ले; इसी में उसकी पूर्णता है और अब इसी दृष्टिकोण के सहारे मैं आगे बढ़ूँगी।''[12]

सन् 1946 से अपनी काव्य-यात्रा आरम्भ कर रघुवीर सहाय सन् 1990 तक सृजनरत रहे। उनका एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण चिंतन प्रधान रचनात्मक व्यक्तित्व इस बीच बनता और विकसित होता गया। अपनी काव्य-यात्रा के दौरान रघुवीर सहाय ने कविता को जीवन से जोड़कर देखा है। वह कविता को एक नए जीवन की खोज बताते हैं। एक कभी न पूरा होने वाला कर्म तथा यथार्थ मानते हैं। उनके अनुसार-''कविता एक साथ नए जीवन की खोज, एक नया जीवन, एक नए जीवन का उद्देश्य और एक अपूर्ण कर्म और एक यथार्थ है।''[13]

रघुवीर सहाय ने कविता की आवश्यकता पर विशेष बल दिया है। कविता की जरूरत कवि को उस समय होती है जब उसे जीने का उद्देश्य समझ में नहीं आ रहा होता है। अर्थात् सामाजिक जीवन की समस्याओं को अभिव्यक्त करने के लिए वह बेचैन हो उठता है किन्तु उपयुक्त माध्यम न मिलने के कारण वह ऐसा कर नहीं पाता है। ऐसी स्थिति में कविता ही श्रेष्ठ माध्यम के रूप में अपने स्वत्व को स्थापित करती है। कविता जीवन का उद्देश्य नहीं बनती बल्कि खुद एक जीवन बन जाती है और जो सोद्देश्य होती है।

''बार बार ऐसा वक्त आता है कि कवि को जीने का उद्देश्य समझ में नहीं आ रहा होता है। उसी वक्त कविता की जरूरत कवि को होती है। कविता उसे जीने का उद्देश्य बता नहीं देती। वह स्वयं उद्देश्य बन जाती है।''[14]

यहाँ यह बात स्पष्ट हो जाती है कि रघुवीर सहाय काव्य-व्यक्तित्व को एक

---

12 शकुन्त माथूर, वक्तव्य : दूसरा सप्तक, संपादक एवं संकलनकर्ता-अज्ञेय, पृ.45, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला पेपरबैक संस्करण-1999

13 रघुवीर सहाय, लिखने का कारण, पृ. 14, राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट दिल्ली, प्रथम संस्करण-1978

14 वही, पृ.-13

लम्बा जीवन और जीवन के उद्देश्य के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। उनकी दृष्टि में काव्य स्वयं एक जीवन है, एक उद्देश्य है। और उद्देश्य की समझ ही कविता की आवश्यकता है।

कविता कवि को जीने का उद्देश्य तो बताती ही है, साथ में उसे एक अच्छा इन्सान भी बनाती है। जितनी बार कवि रचना करता है, उतनी ही बार वह एक नई सोच, नए गुण से परिपूर्ण होता चला जाता है। और इस प्रक्रिया में द्वेष, घृणा या अन्याय इत्यादि का दमन होता चला जाता है। कविता से इन तत्वों का कोई मेल नहीं है। रघुवीर सहाय के ही शब्दों में-

''कविता उस आदमी को जिसने उसे लिखा है, एक बेहतर इन्सान बनाती है। और नहीं बनाती है तो वह कविता नहीं है। कविता क्या, कोई भी रचना नहीं है। हर रचना उसे हमेशा एक बेहतर व्यक्ति बनाती है जिसने उसे किया है। क्योंकि मैंने यह समझा है कि रचना के लिए क्रोध या हिंसा या प्रतिहिंसा हो सकता है कि बाधक न हो, लेकिन द्वेष, घृणा या अन्याय उसके साथ कोई मेल नही खाते।''[15]

और तदुपरांत रघुवीर सहाय ने इस बात की भी पुष्टि की है कि व्यक्तित्व को टूट कर बिखरने से बचाने का काम भी रचना ही करती है। और इसी कारण ही रचनाकार एक बेहतर इंसान बनता है। स्वयं रघुवीर सहाय के ही शब्दों में- ''दूसरे कदम पर वह एक बेहतर इंसान इसलिए बनता है कि हर रचना अपने व्यक्तित्व को बिखरने से बचाने का प्रयत्न है।''[16]

रघुवीर सहाय के काव्य जगत् का महत्त्वपूर्ण बिन्दु अज्ञेय द्वारा संपादित 'दूसरा सप्तक' (1951) था। इस सप्तक में उन्होंने (रघुवीर सहाय) इस बात को स्वीकार किया है कि उन पर किन-किन लोगों का प्रभाव पड़ा तथा समाज को उन्होंने किस ढंग से समझने की कोशिश की। इस सप्तक में उनके द्वारा सन् 1947 से 1949 तक के बीच में की गई रचनाएँ संकलित हैं। इन रचनाओं से उनके एक नए व्यक्तित्व की

---

15 रघुवीर सहाय, स्वतंत्रता के दिनों का संकट और मैं : समकालीन हिन्दी आलोचना, संपादक : परमानंद श्रीवास्तव, पृ. 197, साहित्य अकादमी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, संस्करण-1998

16 वही

तलाश शुरू होती है।

साहित्ये जगत में उस समय हरिवंशराय बच्चन, गिरिजाकुमार माथूर, निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध इत्यादि आधुनिक कवि ही छाए थे। 'बच्चन' जो स्वयं छायावाद और नई कविता के महत्त्वपूर्ण कवि थे। सर्वप्रथम रघुवीर सहाय उनके रूमानियत से प्रभावित हुए और रूमानी प्रवृतिपरक कविताएँ लिखी तत्पश्चात् बच्चन द्वारा रचित वेदना परक गीतों से उनकी काव्यात्मक संवदेना का निर्माण हुआ। इसके पश्चात् अन्य आधुनिक कवियों का भी प्रभाव उनके ऊपर पड़ा। रघुवीर सहाय इस बात की स्वीकृति निम्न पंक्तियों से देते हैं- ''ये कविताएँ 1947 से 1949 तक की रचनाओं में से संकलित हैं। मैने 1947 में एक बार 'बच्चन' की कविताएँ पढ़ीं और उनकी वेदना से मेरा कण्ठ फूटा। तभी से लिखना आरम्भ किया।''[17] बच्चन की वे कौन-कौन सी कविताएँ थीं जिनमें रघुवीर सहाय को वेदना के दर्शन हुए। इसके बारे में वह कहते हैं-''मैंने बच्चन की पुस्तकें 'निशा निमन्त्रण 'एकान्त संगीत' और 'मधुशाला' और 'हलाहल' पढ़ी थी।''[18]

रघुवीर सहाय को लेखन की प्रेरणा एकमात्र बच्चन से ही नहीं मिली थी बल्कि यह तो बाद की बात है। उनको प्रेरणा मिली थी, उनके द्वारा बनाए गए रागात्मक एवं पारिवारिक सम्बंध से। और उनको इसका एहसास अपनी बीमारी के दिनों में हुआ था। रघुवीर सहाय के शब्दों में-''बच्चन की तर्ज पर मैंने बहुत सारी कविताएँ लिखीं जो डायरी में अभी भी पड़ी हे। मगर यह थोड़ा बाद की बात है। शुरूआत तो इस तरह से हुई कि मैं एक बार बहुत सख्त बीमार पड़ा और मालूम नहीं क्यों एक अजब तरह की अपराध भावना और अजब तरह की गिरावट की दुनिया मैंने चारों तरफ बना ली। इसमें माता-पिता से मेरे सम्बंध भी थे और उस उमर में ऐसी एक लड़की से मेरे रागात्मक सम्बंध भी थे, वह भी जिसको मैं केवल जानता ही था।... जिस समय में बहुत बीमार

---

17 रघुवीर सहाय, दूसरा सप्तक, संपादक एवं संकलनकर्ता : अज्ञेय, पृ. 138, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पेपरबैक संस्करण-1999

18 रघुवीर सहाय, रघुवीर सहाय, सम्पादक : विष्णु नागर/असद जैदी, पृ.-169, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण-1993

था, उस समय मैंने एक कविता लिखी।''[19] लेकिन रघुवीर सहाय ने उस समय जो कविता लिखी थी, उस कविता का शीर्षक और स्वयं कविता उन्हें याद नहीं है।

रघुवीर सहाय की बौद्धिक चेतना पर निराला, पंत, अज्ञेय, शमशेर बहादुर सिंह इत्यादि का अलग-अलग तरह से प्रभाव पड़ा। निराला और पंत के काव्य-व्यक्तित्व का असर रघुवीर सहाय पर बहुत ही टेढ़े तरीके से हुआ। किन्तु अज्ञेय और शमशेर की बौद्धिक दुरूहता ने रघुवीर सहाय के काव्य व्यक्तित्व पर एक ही सा प्रभाव डाला-''पंत और निराला का अगर असर हुआ तो बहुत ही टेढ़े तरीके से।

अन्य आधुनिक कवियों में 'अज्ञेय' और शमशेर बहादुर ने जिन की बौद्धिक आत्मानुभूति और बोधगम्य दुरूहता किसी हद तक एक ही सा प्रभाव डालती है-मुझे अपना आगामी रचनाओं के लिए काफी तैयार किया।''[20]

पंत और निराला का टेढ़े तरीके से असर पड़ने का कारण यह है कि वह उनकी कविताओं के संपर्क में बहुत बाद में आए। अपने स्कूल के दिनों में जब वह हाईस्कूल में थे तभी उन्होंने निराला की कविताएँ सुनी थीं, किन्तु उस समय की कविताओं का वातावरण तब दूसरा था। स्वयं रघुवीर सहाय के शब्दों में-''निराला को मैंने बहुत बाद में पढ़ा। सुना जरूर। तब मैं शायद हाईस्कूल में था तब उन्होंने कई कविताएँ एक साथ सुनाई थीं, मगर तब तो दूसरा वातावरण था कविता का।... निराला को कवि के रूप में मैंने बहुत बाद में पढ़ा और समझा तो उसके भी बाद में। मेरा ख्याल है कई दर्जा पढ़ लेने के बाद। अंग्रेजी एम.ए. के दिनों में जहाँ तक मुझे याद आता है।''[21]

कहने का तात्पर्य यह है कि स्वतंत्रा प्राप्ति के लिए तब संघर्ष का वातावरण था। सामाजिक समस्याओं की अभिव्यति गौण थी। अगर कोई चीज़ प्रमुख थी तो वह

---

19 रघुवीर सहाय, सम्पादक : विष्णु नागर, असद जैदी, पृ. 170, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण-1993

20 रघुवीर सहाय, वक्तव्य : दूसरा सप्तक, संकलनकर्ता एवं सम्पादक-अज्ञेय, पृ. 138, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला पेपरबैक संस्करण-1999

21 रघुवीर सहाय, सम्पादक : विष्णु नागर, असद जैदी, पृ. 176, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण-1993

राष्ट्रीय जागरण की अभिव्यक्ति थी। और स्वयं निराला में अनेक विचारधाराओं का सामंजस्य था। उन पर विवेकानन्द, रामकृष्ण मिशन, उपनिषदों के अद्वैतवाद, मार्क्सवाद इत्यादि का प्रभाव पड़ा था। उनकी भाषा भी संस्कृतनिष्ठ थी, जो जनभाषा के दायरे से थोड़ी दूरी बनाए हुए थी। स्वयं उनका व्यक्तित्व अनेक वैषम्यों और विरोधों से भरा हुआ था। वह स्वयं एक युग थे। ठीक इसी तरह की स्थिति पंत की भी थी। पंत में दो विरोधी विचारधाराएँ एक साथ देखने को मिलती है। पंत जी गाँधीवाद और मार्क्सवाद से प्रभावित थे बाह्य रूप से वह मार्क्सवादी थे किन्तु आन्तरिक रूप से यह गाँधीवादी। मार्क्सवाद और गाँधीवाद ये दोनों एक-दूसरे के विपरीत की विचारधाराएँ हैं।

अतः रघुवीर सहाय पर पंत और निराला का प्रभाव एक कवि के रूप में न होकर एक युग के रूप में हुआ। पंत और निराला को समझना एक युग को समझना है। और युग को समझना बहुत ही मुश्किल अर्थात् टेढ़ा काम है।

उप-अध्याय (ख) : 'दूसरा सप्तक'(1951) के दौर में कवि का काव्य व्यक्तित्व

दूसरे सप्तक के प्रकाशन के पूर्वार्द्ध में रघुवीर सहाय की जो रचनाएँ थीं वह प्राकृतिक सौन्दर्य एवं रूमानीपन से सारोबार थीं। उस समय रचित अधिकतर अप्रकाशित कविताओं में रघुवीर सहाय का काव्य-व्यक्तित्व रूमानियत एवं काल्पनिक सौन्दर्य तथा आदर्शवाद लिए हुए था। उदाहरणस्वरूप उनके द्वारा रचित अप्रकाशित कविता जिसमें रूमानीपन एवं काल्पनिक सौन्दर्य देखा जा सकता है:

"तुम सपनों में क्यों आती हो
मन की ज्वाला बुझा चुकी हो
अंत राह का सुझा चुकी हो
फिर क्यों मेरा हाथ पकड़कर उस दुर्गम पथ पर लौटाती हो
तुम सपनों में क्यों आती हो।"[22]

यह अप्रकाशित कविता उन्होंने अपनी डायरी में सन् 1946 में लिखी थी। कवि

---

22 रघुवीर सहाय, वसन्त : दूसरा सप्तक, संकलकर्ता एवं संपादक-अज्ञेय, पृ.140, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला पेपरबैक संस्करण-1999

यहाँ परिणय की पीड़ा से बंधा हुआ है। धरती पर फैले दुखों की ओर वह जाना नही चाहता है। यहाँ उसके सामने जीवन लक्षय नहीं बल्कि लक्ष्य की ज्वाला बुझ चुकी है। वह प्रेम की मादकता और कल्पना में ही लीन रहना चाहता है। यहाँ रघुवीर जी की भावुक वैयक्तिकता उन पर हावी है।

यही आदर्शवाद और रूमानियत दूसरे तारसप्तक की कुछ प्रारम्भिक कविताओं में भी देखने को मिलता है। रूमानी प्रकृति की प्राकृति सुषमा से भरपूर कविता की एक झलक द्रष्टव्य है-

''हिलीं सुनहली सुघर बालियाँ
उत्सुकता से सिहरा जाता बदन
कि इतने निकट प्राणधन
नवल कपोलों से रस-गीले होठ खुले हैं
मधु-पराग की अधिकाई से कण्ठ रूँधा है
तड़प रही है वर्ष-वर्ष भर मिलने की अभिलाष।।'[23]

किन्तु दूसरे तारसप्तक की अंतिम कुछ कविताओं जैसे-पहला पानी, संशय, कोशिश, अनिश्चय, लापरवाही, मुँह अँधेरे इत्यादि में धरती व किसान, छोटे से सत्य का महत्त्वपूर्ण उदाहरण, विसंगतियों के विरूद्ध आक्रोश, आधुनिक जीवन की विसंगतियों में पहचान, जमीनी स्तर, प्रत्याशा आदि महत्त्वपूर्ण बातों को उठाया गया है। अर्थात् गतिशीलता का आग्रह इन कविताओं में देखने को मिलता है। उदाहरण स्वरूप एक प्रगतिशील कविता जो धरती व किसान जीवन की दैनिक क्रियाओं पर आधारित है-

''धीरे-धीरे पूरब से आती हुई हवा
चारों दिशाओं में गयी फैल
ढँक गए शीत से चौड़े-चौड़े खेते, हार,
धरती-परती-घर, गलियारे सब जुड़ा गए

---

23 रघुवीर सहाय, दूसरा सप्तक : संकलकर्ता एवं संपादक - अज्ञेय, पृ. 140, भारतीय ज्ञानपीठ, पेपर बैक संस्करण-1999

धीरे-धीरे सन्ध्या की सी बदली छायी

दुपहर जल से गरूई होकर कुछ झुक आयी।''[24]

बहरहाल रघुवीर सहाय के लिए उनकी सर्जना का प्रस्थान बिन्दु अज्ञेय द्वारा संपादित 'दूसरा सप्तक' ही था। रघुवीर जी ने विधिवत रूप से काव्य सृजन दूसरे सप्तक से ही प्रारम्भ किया और तत्पश्चात् वह करते रहे। यही वह महत्त्वपूर्ण बिन्दु था जिसने काव्य-व्यक्तित्व के विकास की अग्रगामी सम्भावनाओं के लिए एक ज़मीनी सतह तैयार की। और तत्पश्चात् उनका काव्य-व्यक्तित्व एक नई काव्य चेतना अर्थात् सामाजिक यथार्थ के प्रति अधिक जागरूक हो उठा। और उनके व्यक्तित्व ने जागरूक होकर वैज्ञानिक तरह से समाज को समझने की कोशिश की।

''कोशिश तो यही रही है कि सामाजिक यथार्थ के प्रति अधिक से अधिक जागरूक रहा जाए और वैज्ञानिक तरीके से समाज को समझा जाए। वास्तविकताओं की ओर ऐसा ही दृष्टिकोण रहना चाहिए और यही जीवन को स्वस्थ बनाए रख सकता था।''[25]

वैज्ञानिक तरीके से समाज को समझने की जिज्ञासा उन्हें मार्क्सवाद के करीब ले गई। मार्क्सवाद को वैज्ञानिक समाजवाद के नाम से भी जाना जाता है। इस विचारधारा के सैद्धान्तिक जनक कार्ल मार्क्स व एंजेल्स थे। यह विचारधारा औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आई थी। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों का शोषण न हो सके तथा साम्यवादी राज्य-विहीन समाज की स्थपना के लिए मार्क्स ने मार्क्सवाद अर्थात् वैज्ञानिक समाजवाद को जन्म दिया। 20वीं शताब्दी के उतरार्द्ध तक इस दर्शन का प्रभावक्षेत्र विश्वव्यापी बन गया था। इस विचारधारा ने अनेक देशों के अनेक कवियों, आलोचकों, प्रबुद्ध व्यक्तियों, दार्शनिकों, विचारकों इत्यादि को अपने आगोश में ले लिया था, जिनमें रघुवीर सहाय भी एक थे। किन्तु रघुवीर सहाय ने

---

24 रघुवीर सहाय, पहला पानी : दूसरा सप्तक, संकलकर्ता एवं संपादक- अज्ञेय, पृ. 141, भारतीय ज्ञानपीठ, पेपर बैक संस्करण-1999

25 रघुवीर सहाय, दूसरा सप्तक : संकलकर्ता एवं संपादक - अज्ञेय, पृ. 138, भारतीय ज्ञानपीठ, पहला पेपर बैक संस्करण-1999

मार्क्सवाद को कविता पर गिलाफ की तरह नहीं चढ़ाया। रघुवीर सहाय के ही शब्दों में-''मगर मार्क्सवाद को कविता पर गिलाफ की तरह चढ़ाया नहीं जा सकता।''[26]

अर्थात् केवल मार्क्सवाद दृष्टि से ही कविता करनी है, ऐसा उन्होंने कभी भी नहीं सोचा। रघुवीर सहाय ने मार्क्सवाद का खुले दिमाग से अध्ययन किया था। उन्होंने वैज्ञानिक दृष्टि के प्रति प्रतिबद्धता भी व्यक्त की थी, किन्तु उसका (मार्क्सवाद) प्रचारात्मक रूप कविता में उन्होंने कभी पसन्द नही किया। वैज्ञानिक समाजवाद स्वप्नों की स्वर्णधूलि नहीं, वह यथार्थ की कठोर ज़मीन से पैदा होता है। और इस तरह उन्होंने चिंतन की स्वतंत्रता पर बल दिया। रघुवीर सहाय का वैज्ञानिक समाजवाद मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद से बिल्कुल भिन्न है। मार्क्स ने अपनी विलक्षण प्रतिभा की झलक 'थीसिस ऑन फ्यूबाख़' में दी। उन्होंने इसमें लिखा था कि ''दार्शनिकों ने केवल विश्व की व्याख्या विभिन्न रूपों में की है, सवाल उसे बदले का है।''[27]

विश्व को बदलने का तरीका मार्क्स ने हिंसक क्रांति माना है, जो उचित नहीं है। वर्ग-संघर्ष घृणा को जन्म देता है। और घृणा या नफ़रत विनाश का कारण बनता है निर्माण का नहीं।

रघुवीर सहाय निर्माण का कार्य करना चाहते हैं, विनाश का नहीं। इसलिए वह स्वयं कहते हैं-

''नफ़रत करते हुए मैं कोई सृष्टि नहीं कर सकता
सब छोड़ना होगा लिखने के वास्ते।''[28]

हालाँकि मार्क्सवाद उनकी काव्यात्मक-संवेदना का काव्यांश बनकर रचना में दृष्टिगत होता है, किन्तु रघुवीर सहाय का काव्य-व्यक्तित्व, वर्गसंघर्ष में विश्वास नहीं

---

26 रघुवीर सहाय, वक्तव्य : दूसरा सप्तक, संकलनकर्ता एवं सम्पादक-अज्ञेय, पृ. 138, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला पेपरबैक संस्करण-1999

27 कार्ल मार्क्स, कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगिल्स : क्लेक्टेड वर्क्स, खण्ड-5, पृ. 5, (समाजवादी साहित्य : विकास की समस्याएँ, मूल-दमित्री मर्कोव, अनुवाद : निर्मला जैन, पृ. 10, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1987)

28 रघुवीर सहाय, मुआवजा : लोग भूल गए हैं, पृ. 65, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-1989

रखता है। उनका काव्य किसी वर्ग विशेष को लेकर नहीं चलता है, बल्कि उनका काव्य जन से लेकर जनतंत्र तक फैला हुआ है। वह किसी विषय या वस्तु को किसी खास दृष्टिकोण से नहीं देखते हैं, बल्कि वह उस विषय या वस्तु का वैसा ही वर्णन करते हैं जैसा कि वह वर्तमान में अपने मूल रूप में विद्यमान है। रघुवीर सहाय का वाद (सिद्धान्त) वास्तविक जीवन परिस्थितियों से उत्पन्न वाद है, जिसे यथार्थवाद कहा जाता है। और इस वाद में निहित है परिवर्तनशील जीवन-दृष्टि। अर्थात् उनका वाद (सिद्धान्त) परिस्थितियों से निर्मित वाद है। और वह परिस्थितियाँ वर्तमान जीवन की परिस्थितियाँ हैं। प्रत्येक वाद की कुछ सीमाएँ होती हैं, वह सीमाओं से घिरा एवं जुड़ा होता है। किन्तु रघुवीर सहाय के यहाँ आकर वाद की सारी सीमाएँ खत्म हो जाती हैं। वह अपने मूल रूप अर्थात् सत्य के रूप में स्वतः ही उद्घाटित हो जाता है।

रघुवीर सहाय ने सामाजिक जीवन का आधार सहयोग माना है, संघर्ष नहीं। वास्तव में सामाजिक जीवन का आधार सहयोग, सहानुभूति, त्याग इत्यादि हैं। और यही मानव के श्रेष्ठ गुण भी हैं। मार्क्स ने जीवन के इसी श्रेष्ठ पक्ष की अवहेलना की है। रघुवीर सहाय ने इस बात का अनुभव किया कि मार्क्सवाद कोई अंतिम विचारधारा नहीं है। इसमें भी अनेक तरह के अन्तर्विरोध हैं। किन्तु यह विचारधारा समाज को समझने की एक वैज्ञानिक आधारशिला है और इस दृष्टि से इसका प्रभाव महत्त्वपूर्ण है।

वैज्ञानिक तरीके से समाज को समझने की उनकी मुहीम दूसरा सप्तक' की प्रारम्भिक कविताओं में देखने को नहीं मिलता। हाँ उनकी ए अप्रकाशित कविता 'परिणय की पीड़ा के अतिरिक्त धरा पर' में सामाजिक यथार्थ की ओर उन्मुखता तो देखने को मिलती है, किन्तु वैज्ञानिक समाजवाद नहीं। उदाहरण स्वरूप कविता देखिए-

''परिणय की पीड़ा के अतिरिक्त धरा पर दुःख हैं बहुतेरे
दृग वातयान खोलो आँसू के परदे सरका कर देखो
कितने दुःखग्रस्त अभावों से अब तक हम थे आँखें फेरे
उनके हित यह आँसू सिरजो

उनके सुख के सपने देखो।''[29]

किन्तु दूसरे सप्तक के बाद आने वाले काव्य संग्रहों में वैज्ञानिक समाजवाद की झलक देखी जा सकती है। वैज्ञानिक समाजवाद सत्यानुभूति एवं तर्कों के आधार पर जीवन को एक नवीन सार्थकता प्रदान करता है। बहरहाल रघुवीर सहाय अपने निर्माणाधीन सृष्टि में परम्परा के प्रति भी सचेत हैं। 'पहला पानी' नामक कविता में उन्होंने ग्रामीण-जीवन और प्रकृति के अन्त:सम्बन्धों के माध्यम से दर्शाया है कि रूढ़िवादी (दकियानूसी) विचारों से समाज का विकास संभव नहीं है। कवि यहाँ नए विचारों को स्वीकार करने के लिए आग्रह करता है-

''फिर मिट्टी में जीवन की आस जगी है
गलते हैं दकियानूसी मिट्टी के ढेले
पिछली फसलों की गिरी पड़ रही हैं मेड़ें
सारे अनबोये खेतों की उजली धरती
अब एक हुई, स्वीकार कर रही है नव जल
गुरू आज्ञा-सा।''[30]

रघुवीर सहाय की अन्य कविताओं में-'प्रभाती' नामक कविता रूमानीपन लिए हुए है। 'याचना' प्रेमपरक है। 'गजल' रूमानीपन से सारोबार है। 'कला' कवि इसमें प्रयोगशील बन आया है। इसमें वह एक छोटी घटना, छोटे क्षण के छोटे से सत्य का महत्त्वपूर्ण विवरण देता है। 'संशय' नामक कविता में प्रयोगशीलता का आग्रह है तथा विसंगतियों के विरूद्ध आक्रोश है। 'कोशिश' नामक कविता में कवि ने लघु मानव की प्रतिष्ठा की है। कवि इसमें अपने व्यक्तित्व के विकास को जगत् से जोड़कर देखता है। कवि के लिए जगत् को जानना एक दिवस परीक्षा के समान होता है। दिन बीतते जा रहे हैं और कवि के लिए जगत् को समझना कठिन होता जा रहा है। जगत् जिस गति

---

29 रघुवीर सहाय, रघुवीर सहाय का कवि कर्म, सम्पादक-सुरेश शर्मा, पृ. 2, पीपुल्स लिटरेसी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1981

30 रघुवीर सहाय, पहला पानी : दूसरा सप्तक, सम्पादक-अज्ञेय, पृ. 142, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला पेपरबैक संस्करण-1999

TH-17816

से बढ़ता जा रहा है कवि उतनी ही गति से लघु होता जा रहा है। लघु होने का यह एहसास लघुमानव उस समय अनुभव करता है जब उसे बाहर (समाज) में तथा भीतर (आंतरिक मन) दोनों ही जगह में अंधकार की व्याप्ति दिखती है। वह कुछ बड़ा होकर इसको समझना चाहता है। इस संदर्भ में निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य है-

''कुछ बड़ा अगर हरो सकता दिवस परीक्षा का
कुछ कठिन अगर हो सकता मेरे लिए जगत्
मुश्किल है यह-
धूँधला दिखलाई पड़ता है। बाहर-भीतर
कुहरा छाया है, जाड़ों की भारी संध्या सी वह विस्मृति!''[31]

'अनिश्चय' नामक कविता में कवि पुनः प्रयोगशील दिखाई देता है। 'लापरवाही' नामक कविता में कवि आधुनिक जीवन की विसंगतियों में प्रेम का चित्रण करता है। 'समझौता' नामक कविता में कवि रूमानियत का चित्रण करता है। कवि का आन्तरिक रहस्य 'एकोऽंबहस्याम' में खुलता है। इस कविता में कवि ने 'मैं' 'वह' 'तुम' के माध्यम से एक रहस्य निर्मित किया है। और स्वयं इस रहस्य को तोड़ा भी है। मैं, तुम, वह इसे कवि ने मन के चारों कोने बताया है। मैं, तुम, वह आखिर कौन है जिसके दूर होने से यह, वह सभी अपने ही जाएँगे और कवि भी अपने वश में होगा। इन सभी प्रश्नों का उत्तर है-मनुष्य की अहं प्रवृत्ति। और जब यह प्रवृति दूर होगी तब सभी कुछ सामान्य होगा। इस मानव-जीवन में। और स्वयं कवि भी अपने वश में होगा-

''मैं, तुम, यह, वह
मम के चारों कोने-
और व्यक्ति की ये सीमाएँ-
कब टूटेंगी?
जब तुम होगी मुझसे दूर-

---

31 रघुवीर सहाय, कोशिश : दूसरा सप्तक, सम्पादक-अज्ञेय, पृ. 146, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला पेपरबैक संस्करण 1999

यह भी अपना
वह भी अपना
होगा-
मैं अपने वश में होऊँगा-
तब-
तथास्तु!''[32]

'मुँह अँधेरे' नामक कविता में कवि पल-पल का मर्म जान लेना चाहता है। इस कविता में भी प्रयोगशीलता का आग्रह दिखाई देता है। 'सायंकाल' नामक कविता में कवि ने प्रकृति के माध्यम से प्रयोगवादी दृष्टिकोण को मुखरित किया गया है। प्रकृति का यह चित्रण स्वयं (अपने आप) में रूमानीपन भी लिए हुए है। संध्या के आगमन के साथ ही दिन के सारे क्रिया-कलाप धीरे-धीरे दृष्टि से ओझल होते जाते हैं-

''लगती बहुओं की भीड़ कुएँ पर
मैली गगरियों पर से किरणें घूम-घूम
छिपती जाती पनिहारिन के साँवल हाथों की चुड़ियों में
धीरे-धीरे झुकता जाता है शरमाये नयनों-सा दिन
छाया की पलकों के नीचे।''[33]

कवि ने उपर्युक्त कविताओं में व्यष्टि और समष्टि दोनों का ही चित्रण किया है। निष्कर्षत: 'दूसरा सप्तक' में संकलित रघुवीर सहाय की कविताएँ प्रेम, सौन्दर्य, प्रगतिशील, प्रयोगवादी विचारों की झलक से सारोबार हैं। कवि ने दूसरे सप्तक की कविताओं में अपने काव्य-व्यक्तित्व को बिखरने से बचाने के लिए प्रयत्न किया है, क्योंकि उनके काव्य-व्यक्तित्व के विकास के यह प्रारम्भिक दिन थे।

अत: काव्य व्यक्तित्व के प्रारम्भिक दिनों अर्थात् 'दूसरा सप्तक' में संकलित

---

32 रघुवीर सहाय, एकोऽहंबहुस्याम : दूसरा सप्तक, सम्पादक-अज्ञेय, पृ. 150, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला पेपरबैक संस्करण-1999

33 रघुवीर सहाय, सायंकाल : दूसरा सप्तक, सम्पादक-अज्ञेय, पृ. 153, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला पेपरबैक संस्करण-1999

कवि की प्रारम्भिक कविताओं में प्रकृति-चित्रण, ग्रामीण-जीवन, शहरी-जीवन, आत्ममनन, व्यक्तित्व में अन्तर्गठन के लिए प्रयास, विसंगतियों के विरूद्ध आक्रोश एवं जीवन की दैनिक क्रियाओं का कवि ने यथावत चित्रण किया है।

उप-अध्याय (ग) : 'सीढ़ियों पर धूप में' (1960) के दौर में कवि का काव्य-व्यक्तित्व

रघुवीर सहाय की रचनाओं का पहला स्वतंत्र संग्रह 'दूसरा सप्तक' के बाद सन् 1960 में आया। सन् 1960 में आने वाले इस रचनात्मक संग्रह का नाम 'सीढ़ियों पर धूप में' था। इस संग्रह का प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा हुआ था। अज्ञेय द्वारा संपादित इस संग्रह में किसी अन्य साहित्यकार की रचनाएँ संकलित नहीं हैं। इस संग्रह में रघुवीर सहाय की कुल मिलाकर अठहत्तर कविताएँ संकलित हैं। इस संग्रह में संकलित कविताओं की कालावधी सन् 1950 से 1959 तक की है।

'सीढ़ियों पर धूप में' नामक इस रचनात्मक संग्रह में दूसरे सप्तक का काव्य-क्षितिज विस्तार पाता है। कवि की यह कविताएँ उनके काव्य-व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को स्पष्ट रूप से प्रकट करती हैं। कवि ने इस संग्रह में बहुआयामी व्यक्तित्व का परिचय दिया है। उनके इस संग्रह की कविताओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने विभिन्न प्रकार के विषयों पर कविताएँ की हैं। इन विभिन्न प्रकार के विषयों में जल, बरतन, नवयुग, नवयुग की आजादी, गेहूँ, गौरैया, धूप, पेड़, चाँद, तोता, बसन्त, बौर, दुनिया इत्यादि हैं।

आजादी के लगीाग 13 साल बाद आए इस काव्य संग्रह में स्वतंत्रताकालीन आदर्शवाद तथा स्वातंत्र्योत्तर यथार्थवादी अनुभव की सार्थक पकड़ की अभिव्यक्ति दृष्टिगत होती है। इस काव्य संग्रह में कवि का काव्य-व्यक्तित्व बौद्धिक आत्मानुभूति की छाप लिए हुए है। किन्तु पूर्ण रूप से उनकी काव्य-चेतना का विकास इस संग्रह में भी देखने को नहीं मिलता। सामाजिक विडम्बनाओं को कवि बहुत गहरे रूप से समझ नहीं पाया है। कवि ने केवल परिस्थितियों का अवलोकन किया। कवि कारणों की तह में न जाकर केवल ऊपरी सतह का यथावत चित्रण करता है। दूसरा सप्तक में कवि ने

जिन विषयों को आधार बनाया था, ठीक उसी तरह के विषयों को आधार बनाकर उन्हीं विषयों में कुछ नए यथार्थ की खोज कर उन्होंने 'सीढ़ियों पर धूप में' का काव्य-जगत् निर्मित किया। यह काव्य-जगत् विभिन्न विषयों पर तो था, किन्तु वह सीमित था। प्रकृति-चित्रण को बौद्धिकता के दायरे में लाकर उसे असली या नकली कहना अर्थात् उस पर प्रश्न चिन्ह लगाना-

"चाँद की कुछ आदतें हैं
एक तो वह पूर्णिमा के दिन बड़ा-सा निकल आता है
बड़ा नकली (असल शायद वही हो)।"[34]

परिणीता (नारी) का परिणय छोड़ पीड़ा का चित्रण करना, आशा का आँचल छोड़ विश्वास की भूमि पर अपना इत्यादि नए यथार्थ की खोज कवि ने इस संग्रह में की है। कवि ने इस संग्रह में अपनी बौद्धिक आत्मानुभूति और बोधगम्य दुरूहता का परिचय तो दिया किन्तु उस प्रखर दृष्टि की अवहेलना की जो उस समय पूरे भारत में छा-सी गई थी। और उस दृष्टि का नाम था- राजनीतिक दृष्टि। विष्णु खरे के शब्दों में-

"सीढ़ियों पर धूप में की कहानियाँ रघुवीर सहाय की दुनिया के विस्तार को बताती हैं और लगभग उसे पूर्णता की ओर ले जाती हैं-सिर्फ एक कमी रह जाती है, बहुत महत्त्वपूर्ण, केन्द्रीय कमी और वह है एक पैनी राजनीतिक दृष्टि और चेतना की।"[35]

ठीक इसी तरह उनकी कविताओं (सीढ़ियों पर धूप में) में भी प्रखर राजनीतिक दृष्टि का अभाव है। कवि ने इस संग्रह तक पहुँचने के लिए किशोरावस्था से यौवनावस्था तक का सफर तय किया है। कवि के काव्य-व्यक्तित्व के विकासवादी चरण का यह दूसरा पहलू था, जिसमें समीप्य, लगाव, अलगाव इत्यादि का द्वन्द्व था।

---

34 रघुवीर सहाय, चाँद की आदतें : सीढ़ियों पर धूप में, सम्पादक : सच्चिदानन्द वात्सायन अज्ञेय, पृ. 180, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण-1960

35 विष्णु खरे, सीढ़ियों पर धूप में रघुवीर सहाय की दुनिया : पूर्वाग्रह, अंक-5

"मुझे नहीं मालूम था कि मेरी युवावस्था के दिनों में भी
यानी आज भी
दृश्यलेख इतना सुन्दर हो सकता है
शाम को सूरज डूबेगा
दूर मकानों की कतार सुनहरी बुन्दियों की सालर बन जाएगी
और आकाश रंगारंग होकर हवाई अड्डे के विस्तार पर उतर आयेगा।"[36]

और इसी क्रम में रघुवीर सहाय अपने किशोरावस्था के दिनों में चले जाते हैं। उस समय जीवन एक खाली बर्तन हुआ क़रता था किन्तु आज उसमें जल है जो अतीत का आईना दिखाता है-

"आओ, जल भरे बरतन में झाँके
साँस से पानी में डोल उठेंगी दोनों छायाएँ
चौंककर हम अलग-अलग हो जाएँगे
जैसे अब, तब भी मिलाएँगे आँखें, आओ।"[37]

रघुवीर सहाय ने 'जल भरा बरतन' के माध्यम से लोकतंत्र के चेहरे को पेश किया है। कवि ने इस लोकतंत्र को उम्मीद से नहीं बलिक आश्चर्य से देखा है। रघुवीर सहाय के लिए जल भरा बरतन लोकतंत्र है और उसमें झाँकना स्वतंत्रतापूर्व बनी कल्पनात्मक धारणाओं को याद करना है। और हम चौंककर एकदम से कह उठेंगे अरे! यह क्या हो रहा है? क्योंकि जो है, उसकी कल्पना हमने नहीं की थी। उस समय की परिस्थितियों से उत्पन्न काल्पनिक यथार्थ और इस वर्तमान यथार्थ दोनों की छायाओं में बहुत भारी अन्तर है।

नेहरू युग विशेष रूप से 1950 से 1960 के बीच का युग सम्मोहनकारी था। और अधिकतर कवियों एवं बुद्धिजीवियों को यह भ्रम था कि शायद व्यवस्था में कुछ

---

36 रघुवीर सहाय, दे दिया जाता हूँ : सीढ़ियों पर धूप में, सम्पादक : सच्चिदानन्द वात्ससायन अज्ञेय, पृ 182, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण-1960

37 रघुवीर सहाय, आओ, जल भरे बरतन में : सीढ़ियों पर धूप में, सम्पादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन, पृ 117, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण-1960

बदलाव होगा। परिस्थितियाँ सुधरेंगी और मानव विकास की एक नई भूमि तैयार होगी। और शायद इसीलिए ही रघुवीर सहाय की वे कविताएँ जो विशेष रूप से 1950 से 1959 के बीच में लिखी गई, उनमें कारणों की तहकीकात का ज़मीनी स्तर देखने को नहीं मिलता। सन् 1962 के चीन युद्ध के उपरान्त यथार्थ और भ्रम का अन्तर कर कवि वास्तविक यथार्थ को अधिक गहराई से समझकर सामाजिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति अपने आने वाले आगे के काव्य संग्रहों में करता है। सन् 1962 के चीन युद्ध के बाद नेहरूवाद का भ्रम टूट कर बिखर गया।

कवि अपने यथार्थ को और अधिक माँजता है। यथार्थ से जूझने का जो तेवर उसकी पहली उपलब्ध कविता 'अंत का प्रारम्भ' में मिलता है, ठीक उसी तरह का ज़ज्बा इस संग्रह में भी देखने को मिलता है। यथार्थ से जूझने की उनकी यह कोशिश अंतिम काव्य संग्रह 'एक समय था' तक जारी रहा। अर्थात् कविताओं में तथ्य एवं संवेदना की तारतम्यता को उनहोंने टूटने नहीं दिया। रघुवीर सहाय की कविता व्यक्ति या पाठक वर्ग को सम्मोहित नहीं करती बल्कि व्यक्ति को अन्दर से झकझोर देती है। उनका यही व्यक्तित्व कबीर के व्यक्तित्व से मेल खाता है। रघुवीर सहाय यहाँ कठिन कवि-कर्म की ओर अग्रसर होते हुए दिखाई देते हैं। अरूण कमल के शब्दों में-''रघुवीर सहाय की कविता जीवन से जूझने से उत्पन्न कविता है। यह कविता आसानी के विरूद्ध है। इसमें ऐसा कुछ भी नहीं है जो पाठक को तोष दे सके। यह कविता बिजली की धारा की तेजी से धक्का देती है और तब पाठक अपने को एक बिल्कुल नयी दुनिया में खड़ा पाता है। ... रघुवीर सहाय की ये कविताएँ हमें कठिन कवि-कर्म की ओर अग्रसर करती है।''[38]

कवि पुरानी मान्यताओं, मूल्यों इत्यादि के प्रति परिवर्तन चाहता है। वह तोते की तरह अपनी अस्मिता को कैद नहीं होने देना चाहता है। वह रटने या खुशामद करने वाला व्यक्ति नहीं, बल्कि वह स्वच्छंद विचारों को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त

---

38 अरूण कमल, रघुवीर सहाय, सम्पादक-विष्णु नागर/असदज़ैदी, पृ. 100, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण-1993

करने वाला व्यक्ति है-

"अगर कहीं मैं तोता होता
तोता होता तो क्या होता?
तोता होता।
होता तो फिर?
होता, 'फिर' क्या?"[39]

कवि ने गुलामी देखी, गरीबी देखी, युद्ध और बेकारी देखी। और इन सभी को उन्होंने मनुष्य का जानी दुश्मन माना है। इन सभी से लड़ने के लिए वह संघर्षमय पिता (जिन्हें कष्टों से मुक्ति नहीं मिली) से शक्ति प्राप्ति हेतु प्रार्थना करते हैं-

"शक्ति दो, बल दो, हे पिता
जब दुख के भार से मन थकने आय
पैरों में कुली की-सी लपकती चाल छटपटाय
इतना सौजन्य दो कि दूसरों के बक्स-बिस्तर घर तक पहुँचा आयें
कोट की पीठ मैली न हो, ऐसी दो व्यथा-
शक्ति दो।"[40]

आजादी के बाद जवाहरलाल नेहरू ने गरीबों का हिमायती बन केवल अपने कोट की पीठ मैली की। किन्तु रघुवीर सहाय अपने लेखन और व्यक्तित्व में उस व्यथा को भी पा लेना चाहते हैं जो आजादी के बाद भी लोगों के हृदय में व्याप्त रही। केवल सैद्धांतिक स्तरपर गरीबों के बारे में सोचने से कोई उनका हिमायती या कष्टनिवारक नहीं होता। कष्टनिवारक व्यक्ति तब बनता है जब वह दूसरों के बक्स-बिस्तर उनके घरों तक पहुँचा आता है, वह उनके वास्तविक घरों में जाकर उनके चेहरों को देखता है।

कवि को इस नवयुग की आजादी में व्यक्ति का कहीं भी कोई मान नहीं

---

39 रघुवीर सहाय, अगर कहीं मैं तोता होता : सीढ़ियों पर धूप में, सम्पादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन, पृ 146, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण-1960

40 रघुवीर सहाय, शक्ति दो : सीढ़ियों पर धूप में, सम्पादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, पृ 86, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण-1960

दिखता। यहाँ तक की उसकी प्रतिभा का मान नहीं है। जनता ने नवयुग की आजादी मिलने से पूर्व जो धारणाएँ बनाई थीं, उन धारणाओं में अचानक व्यवधान पड़ गया। वह स्वप्न आजादी के बाद स्थिर हो गया। उसमें गतिशीलता नहीं रही।

''मेरी प्रतिभा का कहीं मान नहीं, छि: छि: यह
नवयुग आज़ादी का, नवयुग की आज़ादी!
इतने में किसी ने टोककर जैसे डपट दिया
''देख, सुन, समझ, अरे घरघुस जनवादी!''
चौंक देखा कोई नहीं, सुना केवल ढप्-ढप्
आँगन में गेहूँ का कूड़ा फटक रहीं
सोलह सेरवाले दिन देखे हुई दादी।''[41]

आजादी के उपरान्त बूढ़े, बच्चे, स्त्री इत्यादि गरीबी रेखा से नीचे जीवन व्यतीत करने वाले एवं मध्यम वर्ग की दशा बद से बदत्तर होती गई। स्त्री व्यथा का तो करूण आख्यान मर्माहान्तक रूप में उनकी निम्न कविता में देखा जा सकता है-

''पढ़िए गीता
बनिए सीता
फिर इन सबमें लगा पलीता
किसी मूर्ख की हो परिणीता
निज घरबार बसाइये
.....
घर की सबसे बड़ी पतीली
भरकर भात पसाइये।।''[42]

कवि का केन्द्रिय भाव दु:ख और दु:ख से उपजी करूणा है। इसको वह मानव

---

41 रघुवीर सहाय, इतने में किसी ने : सीढ़ियों पर धूप में, सम्पादक-सच्चिदानन्द वात्स्यायन, पृ. 174, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, संस्करण-प्रथम संस्करण-1960

42 रघुवीर सहाय, पढ़िए गीता : सीढ़ियों पर धूप में, सम्पादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, पृ. 149, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण-1960

और प्रकृति दोनों में पाते हैं। यह एक नया जीवन सौन्दर्य बोध है। कवि प्रकृति से आत्मीय लगाव को चित्रित करता है। यह लगाव क्षण भर का लगाव नहीं है। इसकी गतिशीलता को गतिशील होकर नहीं बल्कि ठहरकर समझा जा सकता है। क्योंकि यह ठहराव चिंतन पर जोर देता है। इसीलिए इन कविताओं में जीवन की स्वाभाविक क्रियाओं में प्रकृति के महत्त्वपूर्ण योगदान को चित्रित किया गया है।

''पानी का स्वरूप ही शीतल है
बाग में नल से फूटती उजली विपुल धार
कल-कल करता हुआ दूर दूर तक जल
हरेरी में सीझता है
मिट्टी में रसता है
देखे से ताप हरता है मन का दु:ख विनसता है।''[43]

कवि का यहाँ प्रकृति से सम्बंध छायावादियों की तरह का नहीं है। यहाँ रहस्य नहीं बल्कि यथार्थ मौजूद है। कवि दु:ख को उसकी समग्रता में देखने के लिए प्रयत्नरत है। वह रोमांटिक भाव-बोध के स्थान पर परिस्थितियों से उत्पन्न भाव-बोध को ग्रहण करता है। हर परिस्थिति को रोज नए ढंग से समझना चाहता है। हर नई परिस्थितियां जनता की परिस्थितियां हैं और जनता इन परिस्थितियों में अनेक समस्याओं से घिरी हुई है। कवि का दु:ख जनता का दु:ख है। कवि दु:ख के कारणों को जानना चाहता है और उसके बाद वह न्याय, अधिकार, स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व इत्यादि की नींव रखना चाहता है। कवि सभी की बात करता है, कुछ विशिष्ट वर्गों की नहीं। कवि जनता को वे सभी अधिकार दिलाना चाहता है जो संविधान में वर्णित है। कवि कम से कम लेकर फिर दोबारा और अधिक निरीह रूप में जनता को नहीं देखना चाहता है।

''यह क्या है जो इस जूते में गड़ता है
यह कील कहाँ से रोज निकल आती है

---

43 रघुवीर सहाय, पानी : सीढ़ियों पर धूप में, सम्पादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, पृ. 100, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण-1960

इस दु:ख को रोज़ समझना क्यों पड़ता है...

हम तो सारा का सारा लेंगे जीवन

'कम से कम' वाली बात न हमसे कहिए।''[44]

रघुवीर सहाय अपने काव्य-व्यक्तित्व को सामाजिक और व्यक्तिगत परिप्रेक्ष्य रखकर मूल्यांकित करते हैं। उनका अकेलापन अस्तित्ववादियों की तरह का नहीं बल्कि वह तो एक आत्मीय अनुभव है। और यह आत्मीय अनुभव पूँजीवादी औद्योगिक के परिणामस्वप खंडित नहीं हुआ। कवि का व्यक्तितव खण्डों में विभाजित नहीं हुआ। उनका व्यक्तित्व समाज में एक ढोंग बनकर नहीं रहा, बल्कि जनवादी, जनतांत्रिक, समाजवादी चिंतन से युक्त रहा है। कवि अपने व्यक्तित्व को समाज की सार्थकता के परिप्रेक्ष्य में ही देखता है। अकेले होते हुए जीवन में भी वह अकेला नहीं है बल्कि वहाँ एक पूरा समाज मौजूद है।

''पर मेरा और एक जीवन है

जिसमें मैं अकेला हूँ

जिस नगर के गलियारों फुटपाथों मैदानों में घूमा हूँ

हँसा-खेला हूँ

उसके अनेक हैं नागर, सेठ, म्यूनिसिपल, कमिश्नर, नेता

और सैलानी, शतरंजबाज और आवारें

पर मैं इस हाहाहूतीं नगरी में अकेला हूँ।''[45]

रघुवीर सहाय ने पत्रकारिता से प्राप्त अपने विस्तारित अनुभव को काव्यात्मक अनुभव बनाया। कवि यहाँ यह मानता है कि हर रचनाकार के दो जीवन होते हैं-'(1) बाह्य जीवन (2) आंतरिक जीवन (अकेला जीवन)। बाह्य जीवन से वह समझ ग्रहण करता है और फिर समझ मिलने के बाद वह उसे रचनात्मक बनाता है। यही रचनात्मकता

---

44 रघुवीर सहाय, हमने यह देखा : सीढ़ियों पर धूप में, सम्पादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, पृ. 106, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण-1960

45 रघुवीर सहाय, मेरा एक जीवन है : सीढ़ियों पर धूप में, सम्पादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, पृ. 87, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण-1960

उसका आंतरिक पक्ष है। इसी जगह पर आकर एक पत्रकार और कवि की दृष्टि में अंतर आ जाता है-''मैं जो अनुभव करता हूँ उसे तभी लिख पाता हूँ जब उस अनुभव से अपने को अकेला कर लेता हूँ।[46]

किन्तु निवैयक्तिक होने के बाद यह निवैयक्तिकता समाज सापेक्ष अभिव्यक्ति चाहता है। स्वयं कवि के शब्दों में-''अनुभव करते वक्त अगर आपके साथ यह घटना घट गई है कि वह अनुभव निवैयक्तिक हो गया है तो निश्चित है कि वह किसी न किसी रूप में फिर एक बार अभिव्यक्ति माँगेगा-काव्य में या कहानी में।''[47]

और इसीलिए रघुवीर सहाय साफ-साफ शब्दों में कहते हैं कि मैं जिन्दा रहकर फिर इसी समाज में रहना चाहता हूँ। उन्हें समाज में गड़बड़ी तो दिखाई देती है किन्तु वह जैनेन्द्र के उपन्यास त्यागपत्र में चित्रित मृणाल की तरह वाला समाज नहीं है। मृणाल की तरह यहां कवि समाज में टूटकर बिखरना नहीं चाहता है। वह एक नया समाज निर्मित करने से पहले समाज में रहने वाले व्यक्ति को निर्मित करना चाहता है।

रघुवीर सहाय का अकेलापन व्यक्तित्व बोध है, अस्तित्व बोध नहीं। व्यक्ति को व्यक्तित्व बोध होने के पश्चात् कर्त्तव्यबोध भी होता है। कवि को भी कर्त्तव्यबोध होता है-

''पर मैं फिर भी जिऊँगा
इसी नगरी में रहूँगा
रूखी रोटी खाऊँगा और ठंडा पानी पिऊँगा
क्योंकि मेरा एक और जीवन है उसमें मैं अकेला हूँ।''[48]

इसके पश्चात् कवि समाज के अकेलेपन की ओर संकेत करता है-

''दुनिया एक चुरमुरायी हुई सी चीज़ हो गयी है

---

46 रघुवीर सहाय, रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-3, सम्पादक : सुरेश शर्मा, पृ 471, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2000

47 वही, पृ 420

48 रघुवीर सहाय, मेरा एक जीवन है : सीढ़ियों पर धूप में, सम्पादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन, पृ. 88, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण-1960

दुनिया एक पपड़ियायी हुई सी चीज़ हो गयी है।''[49]

कवि ने इस संग्रह में ईमानदारी के मौलिक उपयोग पर बल दिया है। उन्होंने काव्य-व्यक्तित्व में मौलिक ईमानदारी पर बल देकर व्यक्तित्व की झूठी आत्मसत्ता को अस्वीकार किया है। वह ईमानदारी को एक निरपेक्ष गुण मानते हैं। उनकी दृष्टि में यदि व्यक्तित्व में ईमानदारी की छाप है तो प्रतिभा और मनोबल सहज ही आ जाते हैं। कवि 'ईमानदारी' को अभिव्यक्ति की प्रेरणा मानता है।

''ईमानदारी एक निरपेक्ष गुण है कि वह अभिव्यक्ति की प्रेरणा है।''[50]

बहरहाल रघुवीर सहाय 'सीढ़ियों पर धूप में' तक आते-आते ईमानदारी को अपने लिए, समाज के लिए और समाज में परिवर्तन के लिए अनिवार्य मानते हैं। 'सीढ़ियों पर धूप में' तक आते-आते उनकी सोच में परिपक्वता आ जाती है। यह संग्रह उस परिवर्तन को रेखांकित करता है, जो कवि के व्यक्तित्व में आया है। यह ठीक उसी प्रकार का परिवर्तन है जिस प्रकार एक नन्हा बच्चा बड़े होने पर अपने व्यवहार में परिवर्तन पाता है-

''जानता हूँ उन सभी परिवर्तनों को
जो कि मुझमें अभी तक होते रहे हैं
देखिए ना,
पड़ा रहता था कभी मैं किलकता या अँगूठे चूसता
या कभी पइयाँ फेंकता अपने खटोले में
तथा अब, बहुत कम, केवल जरूरत आ पड़े तब बोलता हूँ।''[51]

अत: सीढ़ियों पर धूप में कविताओं में कवि का काव्य-व्यक्तित्व संस्कारी था। प्रकृति

---

49 रघुवीर सहाय, मेरा एक जीवन है : सीढ़ियों पर धूप में, सम्पादक : सच्चिदानन्द वात्सायन, पृ 138, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण-1960

50 रघुवीर सहाय, यथार्थ यथास्थिति नहीं, सम्पादक : सुरेश शर्मा, पृ. 15, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1994

51 रघुवीर सहाय, परिवर्तन : सीढ़ियों पर धूप में, सम्पादक : सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, पृ. 176, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण-1960

का चिंतनवादी रूप कवि के व्यक्तित्व के निर्माण में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा था। कवि एक के बाद एक नए अनुभवों को आत्मसात् कर रहा था। वह विभिन्न प्रकार के संस्कार ग्रहण कर रहा था। अनुभवों की टकराहट के कारण कवि दुनिया को एक नई दृष्टि व नए रूप मं देख रहा था। वह कायर लोगों से घिरी दुनिया को समझ रहा था।

उप-अध्याय (घ) : 'आत्महत्या के विरूद्ध' (1967) के दौर में कवि का काव्य-व्यक्तित्व

सीढ़ियों पर धूप में' के बाद सन् 1967 में रघुवीर सहाय द्वारा रचित सुविख्यात काव्य संग्रह ''आत्महत्या के विरूद्ध'' साहित्य जगत् में आया। यह कविता संग्रह आलोचना जगत् में अपनी अमिट छाप छोड़ गया।

''प्रथम बार 1967 में प्रकाशित होने पर सहृदय समाज में और गुरुजनों में इसे मान मिला और आलोचना जगत् में यह नयी कविता में एक नए जीवन के अध्ययन का विषय माना गया।''[52]

इन कविताओं के काल सन् 1960 से 1967 है। कवि की इस संग्रह में 37 कविताएँ और एक स्वरलिपि संकलित है। कवि ने ये कविताएँ अकविता के विरोध में रची थीं। संत्रास, कुण्ठा, घुटन, दर्द, अकेलापन, अजनबीपन, अतिश्य वैयक्तिकता, राजनीतिक मोहभंग इत्यादि से ग्रसित व्यक्ति 'आत्महत्या' की ओर अग्रसर होता है। कवि इसी आत्महत्या के विरूद्ध आ खड़ा होता है। सामाजिक संदर्भों को वह संवेदना के जमीनी स्तर पर उतारता है। कवि राजनीतिक पुनर्गठन और जनतांत्रिक चेतना जो पूरे देश में छा सी गई थी, से सीधा साक्षात्कार करता है।

कवि आधुनिक युग में व्यवस्था से उत्पन्न 'आत्महत्या' की समस्या को बहुत ही गम्भीरता से लेता है। कवि मरते हुए मनुष्य के बारे में चिंतित है।

---

52 रघुवीर सहाय, तीसरे संस्करण की भूमिका : आत्महत्या के विरूद्ध, रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-1, संपादक : सुरेश शर्मा, पृ. 106, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2000

'मरते मनुष्य के बारे में क्या करूँ क्या करूँ मरते मनुष्य का।''[53]

नेहरू युग में व्यक्ति का जीवन असुरक्षित हो गया ओर यह असुरक्षा का भाव निरन्तर बढ़ता ही गया। कवि पूरे समाज को एक मूल्यहीनता वाली अवस्था में पाता है। कवि का काव्य-व्यक्तित्व यहां आकर एक विद्रोही स्वर में ढल जाता है, किन्तु यह विद्रोह राष्ट्र के प्रति न होकर राष्ट्र में रहने वाले हर उस तंत्र के प्रति है जिसने पूरे देश, पूरे समाज को एक मूल्यहीनता की स्थिति में ला दिया है। कवि हर एक व्यक्ति को आत्मघाती स्थिति में पाता है। यह मात्र वह हत्या नहीं जो व्यक्ति तेजधार हथियारों से करता है बल्कि यह वह हत्या है जो परिस्थितियों के दबाव से व्यक्ति करने के लिए मजबूर हो जाता है। व्यापक अर्थ में यह 'आत्महत्या' अस्मिता एवं जिजीविषा की हत्या है। सृष्टि में हो रहे कार्य-व्यापारों की हत्या है। स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय अर्थात् सटीक अर्थों में कहें तो जनतंत्र की हत्या है। कवि का व्यक्तित्व यहां राजनीति को व्यापक अर्थ में ग्रहण करता है। भ्रष्ट राजनीति ने प्रत्येक व्यक्ति के परिवेश में त्रासदी बन उसकी लालसा को तिल-तिल कर मिटने पर मजबूर कर दिया है। कवि अवसरवादी राजनीति और भ्रष्ट प्रशासन तंत्र को व्यक्ति की आत्मघातिनी स्थिति के लिए दोषी पाता है और इसी के विरोध में कवि समाज के हर एक व्यक्ति में चेतना जागृत करना चाहता है। कवि का काव्य-व्यक्तित्व अमानवीय स्थिति को पूरे यथार्थ के साथ प्रस्तुत करता है। कवि का व्यक्तित्व यहाँ एक जागरूक राष्ट्र नागरिक के रूप में दिखता है, जिसने पूरे हिन्दुस्तान को आत्महत्या की स्थिति में पाया।

''लोग लोग चारों तरफ हैं मार तमाम लोग
खुश और असहाय
उनके बीच में सहता हूँ
उनका दुख
अपने आप और बेकार

---

53 रघुवीर सहाय, आत्महत्या के विरूद्ध, पृ. 22, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1967

देश की व्यवस्था का विराट वैभव

व्याप्त है चारों ओर

एक कोने में दुबक ही तो सकता हूँ।''[54]

कवि का व्यक्तित्व यहाँ दुख को पालना सीख रहा है ताकि उसको उचित समय पर उपयोग कर सुख में परिवर्तित कर सके। कवि समाज में प्रति जागरूक है। वह सामाजिक आर्थिक विषमता को बड़ी ही पैनी दृष्टि से देख रहा है। कवि को बौद्धिक चेतना से युक्त व्यक्तियों की जरूरत है। किन्तु भ्रष्ट राजनीति एवं यथास्थितिवादी प्रशासन तंत्र ने व्यक्ति की चेतना को जागरूक ही नहीं होने दिया। कवि चाहता है कि जनता की चेतना जागृत हों, किन्तु जब वह आज़ाद हिन्दुस्तान में पाता है कि जनता ही लोकतांत्रिक मूल्यों को आत्मसात करने के लिए तैयार नहीं है, जिसके कारण उसका बहुत बड़ा अहित एवं शोषण किया जा रहा है तो कवि जनता के प्रति एक समाजसापेक्ष खीज व्यक्त करता है। कवि द्वारा रचित निम्न पंक्तियों में यह भाव देखा जा सकता है-

''एक मेरी मुश्किल है जनता

जिससे मुझे नफरत है सच्ची और निस्संग

जिस् पर कि मेरा क्रोध बार-बार न्यौछावर होता है।''[55]

कवि यहाँ नफरत को सच्ची और निस्संग बताता है। अर्थात् कवि यहाँ जनता से सच्चा प्यार करता है ओर शायद नफ़रत इसीलिए ही करता है कि जनता अपनी बौद्धिक चेतना को समसामयिक संदर्भों से क्यों नहीं जोड़ रही है? देश का शोषण देश के अयोग्य नेता पूरे शिद्दत के साथ करते हैं। झूठ, विश्वासघात, मक्कारी, भ्रष्टाचार, हत्या इत्यादि से जनता को नेताओं ने घेर लिया है, जनता उनसे निकलने के लिए संघर्ष क्यों नहीं करती? यह संघर्ष, वर्ग संघर्ष नहीं है बल्कि व्यवस्था में परिवर्तन की माँग है। अयोग्य नेताओं या लोगों को सत्ता से बेदखल करना होगा। अयोग्य एवं भ्रष्ट नेता जनता

---

54 रघुवीर सहाय, अपने आप और बेकार : आत्महत्या के विरूद्ध, पृ.-71, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1967

55 रघुवीर सहाय, स्वाधीन व्यक्ति : आत्महत्या के विरूद्ध, पृ. 81, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1967

को हर बार और हर साल बेवकूफ बनाते हैं। कवि की दृष्टि में इस प्रकार के सभी नेता अयोग्य है और इन्हें शासन चलाने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए।

''गाकर सुनाता है
जनवादी वादों की घोषणा
महामंत्री जनता के लिए नहीं
वह विरोधियों को प्रमाण दे रहा है
कि मैं दल बदल के लिए योग्य व्यक्ति हूँ।।''[56]

अशोक वाजपेयी ने इस काव्य संग्रह के बारे में लिखा है कि-

''वह ऐसे युवा कवि की रचना है जो अपने इस खास प्रजातंत्र के खास मोड़ पर अपनी आँखें खोले पूरे साहस से अपनी कविता में हमारी दुनिया को देख रहा है, छटपटा रहा है, चीख रहा है।''[57]

कवि ने स्वातंत्र्योत्तर भारत में पाया कि जनता को बीस वर्षों तक धोखा दिया गया और लगातार दिया जारहा है। कवि व्यक्ति के उस माहौल को चित्रित करता है जो आज़ादी के बाद अपने भयावह स्थिति में दिखती है। और जो मूल्य टूटकर बिखर गए उनकी अभिव्यक्ति कवि ने निम्न पंक्तियों में की है-

''टूटते टूटते
जिस जगह आकर विश्वास हो जाएगा कि
बीस साल
धोखा दिया गया
वहीं मुझे फिर कहा जाएगा विश्वास करने को।''[58]

कवि का काव्य-व्यक्तित्व यहाँ नारी के प्रति भी उपेक्षित नहीं है, बल्कि पहले से

---

56 रघुवीर सहाय, एक अधेड़ भारतीय आत्मा : आत्महत्या के विरूद्ध, पृ. 81, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1967

57 अशोक वाजपेयी, आलोचना, जुलाई-सितम्बर, 1968

58 रघुवीर सहाय, एक अधेड़ भारतीय आत्मा : आत्महत्या के विरूद्ध, पृ. 86, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1967

अधिक यथार्थवादी रूप में मुखरित हुआ है-

"एक लड़की कि जिसकी बाढ़ मारी गयी है
डर के मारे नहीं बताती हैं मुझको वह
अपना दुख।"[59]

कवि का व्यक्तित्व इस संग्रह में भाषा के प्रति भी सजग हो उठा है। कवि ने शब्दों में मानवीय गतिविधियों की जीवंत अभिव्यक्ति की है। शब्दों में नाटकीयता का आभास दिखाकर कवि ने एक नया प्रयोग किया है इससे पहले इस प्रकार का प्रयोग किसी अन्य कवि की कविता में नहीं दिखता।

"गोल शब्दकोश में अमोल बोल तुतलाते
भीमकाय भाषाविद् हाँफते डकारते हंकरते।"[60]

कवि वर्तमान हिन्दी की स्थिति से सन्तुष्ट नहीं है। कवि मानता है कि अपराधीकरण का भाव यहाँ हिन्दी भाषा में भी आ गया है। हिन्दी की हर ओर से हत्या की जा रही है।

इस काव्य संग्रह में प्रेम, स्त्री, प्रकृति इत्यादि से सम्बंधित कुछ कविताएँ भी हैं, किन्तु इन कविताओं के माध्यम से कवि ने लोकतंत्र का, राजनीति का पतनशील रूप चित्रित किया है-

"देखो वृक्ष को देखो वह कुछ कर रहा है
किताबी होगा कवि जो कहेगा कि हाय पत्ता झर रहा है
रुखे मुँह से रचता है वृक्ष जब वह सूखे पत्ते गिराता है।"[61]

कवि राजनीतिक अन्तर्विरोधों की पर्तों को भी खोलता है। कवि लोकतंत्र के ढाँचे में राजनीति को रखकर देखता एवं उसका मूल्यांकन करता है, जबकि अन्य

---

59 रघुवीर सहाय, शराब के बाद का सवेरा : आत्महत्या के विरूद्ध, पृ. 51, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1967

60 रघुवीर सहाय, बड़ा हो रहा है : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ.-23, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1967

61 रघुवीर सहाय, बड़ा हो रहा है : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ.-11, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1975

महत्त्वपूर्ण कवि धूमिल और नागार्जून राजनीति को दलीय दृष्टि से देखते हैं। रघुवीर सहाय दलीय राजनीति को नकारते हैं। वह रचनाकार को दलीय राजनीति से अलग रहने की सलाह देते हैं, ताकि रचनाकार की मौलिकता एवं सृजनात्मकता बनी रहे।

बहरहाल इस संग्रह की कविताओं में कवि का नजरिया पहले से अधिक सूक्ष्म रूप धारण करता है। कवि राजनीति को व्यापक अर्थों में समझता है। कवि का व्यक्तित्व मोहभंग के बाद भी अटूट ही बना रहा। कवि का व्यक्तित्व वैयक्तिकता को नकार जनता के प्रति अपनी खीज़ भी व्यक्त करता है। कवि के व्यक्तित्व में हत्या के प्रति भय नहीं बल्कि जागरूकता उत्पन्न होती है। वह बेकार देश की व्यवस्था का विराट वैभव अपने चारों ओर पाता है। कवि का काव्य व्यक्तित्व यहाँ संघर्षरत दिखाई देता है। और यह संघर्ष परिवर्तन के प्रति है, एक जवाबदेह शासन के प्रति है। रघुवीर सहाय ने सीढ़ियों से उठकर धूप की वास्तविक जमीन का सफर तय किया। कवि ने विराट फैले प्रकृति के अन्दर दुख की वास्तविक सत्ता को भी देखा और काव्य में उसकी अभिव्यक्ति की। कवि ने भाषा को भी देखा, और भाषाविदों को भी। भारतेन्दु की तरह रघुवीर सहाय भी देश की उन्नति का एक मूल भाषा मानते हैं। अपनी मातृभाषा हिन्दी जो अब दुहाजु की नयी बीबी है। कवि परिवर्तन चाहता है- व्यक्ति के प्रति, समाज के प्रति, व्यवस्था के प्रति। कवि चाहता है कि इस स्वाधीन भारत में व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से न डरे। कवि का काव्य-व्यक्तित्व एक अटूट रिश्ता चाहता है। इस राष्ट्रीय झेंप में।

उप-अध्याय (ङ) : हँसो-हँसो जल्दी हँसो (1975) के दौर में कवि का काव्य व्यक्तित्व

'आत्महत्या के विरूद्ध' के बाद सन् 1975 में रघुवीर सहाय का एक अन्य काव्य-संग्रह 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' आया। इस काव्य-संग्रह में कवि द्वारा 1967 से लेकर 1973 तक के मध्य में रचित कविताएँ संकलित है। इस संग्रह में कवि की इक्यावन कविताएँ संकलित हैं। यह एक ऐसा संग्रह है जिसमें कवि ने कोई भूमिका नहीं दी है। कवि को लगता है कि अब भूमिका देने का समय नहीं, बल्कि दहशत भरी

जिन्दगी और भ्रष्ट व्यवस्था के विरूद्ध लड़ने का समय है। कवि का काव्य-व्यक्तित्व यहाँ बेस और सुपरस्ट्रक्चर को बहुत ही बेहतर ढंग से समझ रहा है।

''बड़ा हो रहा है लड़का
उन औजारों के बिना
जिनसे वह बनाता और तोड़ता हुआ बड़ा होता
वह सिर्फ बड़ा हो रहा है।''[62]

कवि के व्यक्तित्व में यहाँ एक नई चीज़ नैतिकता आकर जुड़ जाती है। यह नैतिक करूणा को दया में परिवर्तित नहीं होने देती। कवि का काव्य-व्यक्तित्व यहां हित चिंतक के रूप में उभरकर आता है। शोषकों द्वारा शोषित वर्ग का दमन किया जा रहा है। कवि इस दमन को त्रासदी को समझ रहा है। वह चाहता है कि शोषित समाज भी इस दमन की ट्रेजडी को समझे और समझ कर उस पर व्यंग्य करे। और इस व्यंग्यात्मक हँसी में एक प्रतिरोध छिपा हुआ है। यदि प्रतिरोध व्यापक स्तर पर प्रत्यक्ष होता है तो शायद उसकी कड़वाहट पकड़ ली जाए और व्यवस्था व्यक्ति को अनिश्चित काल के लिए सजा दे दे। कवि शोषित वर्ग (जिनका शोषण हुआ है) को यह सलाह देता है कि दमनकारी वर्ग से तात्कालिक रूप से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। और धीरे-धीरे प्रतिरोध के स्वर संगठित करना चाहिए। प्रतिरोध का स्वर प्रत्यक्ष न हो, इसीलिए कवि उस पर हँसी का आवरण चढ़ा देने के लिए जनता से कहता है। कवि का काव्य-व्यक्तित्व इस संग्रह में अर्थ को बहुत ही गम्भीरता से लेता है। वह चाहता है कि किसी भी शब्द का वही अर्थ लिया जाए जो उससे अभिप्रेत होता है, किन्तु वर्तमान समाज में ऐसा नहीं हो रहा है। कवि यह मानता है कि अभिव्यक्त शब्द का गलत अर्थ लेने पर उसकी अर्थवत्ता खो जाती है और उससे अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती है जिससे व्यक्ति संकट में पड़ जाता है। वर्तमान समय में व्यवस्था शब्दों के अनेकार्थ ग्रहण कर व्यक्ति को सजा दे रही है। कवि इसी विसंगति और विडम्बना पर हँसता है। कवि व्यवस्थ को बदलने के लिए हँसता है। इस हँसी में व्यंग्य और आक्रोश मिला

---

62 रघुवीर सहाय, बड़ा हो रहा है : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ.-11, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1975

हुआ है। यह व्यवस्था को प्रमोद देने वाली हँसी नहीं है कवि हँसी का बहुतायत अर्थ लेता है। जिस प्रकार शोषक वर्ग शोषित समाज की अविकसित बौद्धिक चेतना पर हँसकर उसका शोषण करता है ठीक उसी प्रकार कवि चाहता है कि शोषित जनता की शोषक वर्ग की क्रूरताओं, अमानवीय अत्याचारों, शोषण की राजनीति इत्यादि के प्रति खीज़ व्यक्त करे। और यह आक्रोश या खीज़ हँसी के आवरण में होना चाहिए। सत्ता द्वारा नागरिक की हँसी पर निगाह रखी जा रही है अर्थात् नागरिक स्वतंत्र रूप से हँसने का अधिकारी भी नहीं रहा। यहाँ तक कि वह स्वयं पर भी नहीं हँस सकता, आत्मउपहास का भी अधिकार उसे नहीं रहा क्योंकि वह आत्मउपहास करेगा तो व्यवस्था को लगेगा कि उस आत्मउपहास से व्यक्ति उसका मजाक उड़ा रहा है, और उसे सजा दे दी जाएगी। कवि की हँसी भावात्मक नहीं बल्कि चिंतनशील एवं विश्लेषणात्मक है-

"हँसो तुम पर निगाह रखी जा रही है
हँसो अपने पर न हँसना क्योंकि उसकी कड़वाहट
पकड़ ली जाएगी और तुम मारे जाओगे
ऐसे हँसो कि बहुत खुश न मालूम हो।"[63]

सन् 1975 में आपातकालीन साया मँडरा रहा था और श्रीमति इंदिरा गाँधी के प्रधानमंत्री कालांश में जून 1975 से 1977 तक आपातकाल जारी रहा। इस दौरान न्यायपालिका और सरकार के सम्बधों में भी तनाव आ गए थे। सत्तारूढ़ रकार ने न्यायपालिका पर यह आरोप लगाया कि वह यथास्थवादी है। वह गरीबों को लाभ पहुँचाने वाले कल्याण कार्यक्रमों को लागू करने की राह में अनेक कठिनाइयाँ पैदा कर रही है। सतारूढ़ पार्टी का यह मानना था कि अदालत का यह नजरिया लोकतंत्र के सिद्धान्तों और संसद की सर्वोच्चता के विरूद्ध होता जा रहा है। जबकि न्यायपालिका ने सत्ता को दुरूपयोग अतिचार, भ्रष्टाचार, यथास्थितिवाद के विभिन्न आरोपों में लिप्त पाया। और 25 जून

---

63 रघुवीर सहाय, हँसो हँसो जल्दी हँसो, हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ.-25, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1975

1975 को आपातकाल की घोषणा कर दी गई। और फिर आपातकाल के बाद आयोग (शाह आयोग) का गठन किया गया ताकि आपातकाल के दौरान की गई कार्यवाई तथा सत्ता के दुरूपयोग, अतिचार इत्यादि की जाँच की जा सके। जाँच के दौरान आयोग ने पाया कि सत्तारूढ़ पार्टी ने बहुत सारी गड़बड़ियां की हैं।

कवि ने आपातकाल से पूर्व 'आपातकाल लग सकता है' की स्थिति को भाँप लिया था। और इसीलिए वह जनता से अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिरोध दर्ज कराने के लिए कहते हैं। कवि 'दो अर्थ का भय' शीर्षक कविता में भाषा के माध्यम से प्रतिरोध दर्ज कराने की आवश्यकता पर बल देकर कहता है कि-

''मुझे मालूम था मगर इस तरह नहीं कि जो
खतरे मैंने देखे थे वे जब सच होंगे
तो किस तरह उनकी चेतावनी देने की भाषा
बेकार हो चुकी होगी
एक नयी भाषा दरकार होगी।''[64]

कवि हँसी के बहाने परेशानियों को समझ कर समझाना चाहता है। गरीब को कोई प्रश्रय नहीं देता और न ही उसे ताकतवर की मार से बचाता है। कवि का क्रोध ऐसे ही व्यक्तियों (ताकतवर) पर बार-बार आता होता है। गरीब अपने ऊपर पड़े प्रहार का विरोध नहीं करता बल्कि उसको हँस कर टाल देता है। गरीब यह दिखाने की कोशिश करता है कि उस पर ज्यादा मार नहीं पड़ी है। कवि इसी विडम्बना को देखते हुए गरीबों को संगठित होने के लिए कहता है ताकि वह शोषक वर्ग से प्रतिकार कर सकें।

''हँसो हँसो जल्दी हँसो
इसके पहले की वे चले जाँय
उनसे हाथ मिलाते हुए
नजरें नीचे किए

---

64 रघुवीर सहाय, दो अर्थ का भय, हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ.-3, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1975

उनकी याद दिलाते हुए हँसो

कि तुम कल भी हँसे थे।''[65]

मुक्ति हँसी को जन्म देती है। चाहे यह मुक्ति स्वतंत्र होने की मुक्ति हो या फिर समस्याओं से छुटारा पाने की मुक्ति हो। मुक्ति का एहसास व्यक्ति को हँसी के लिए बाध्य करता है। वर्तमान समय में सहज हँसी पर पाबंदी लगा दी गई हैं। व्यवस्था ने आदमी की सहज हँसी को एक तरह से गुलाम बना दिया है ताकि व्यक्ति प्रतिरोध की अवस्था में न आ सके। वह केवल उस हँसी का उपयोग व्यवस्था से समझौता एवं अपनी रक्षा करने के लिए ही कर सके। राजनीति का यहाँ बहुत ही बीभत्स रूप उभरकर सामने आता है। नन्द किशोर नवल के शब्दों में-''राजनीति 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' की कविताओं का भी मुख्य विषय है, लेकिन इन कविताओं का भी मुख्य विषय है, लेकिन इन कविताओं का असली नायक साधारण जन है जो कविताएँ राजनीतिक हैं, उनके पार्श्व में भी साधारण जन ही खड़ा है, या फिर साधारण जन के नजरिए से ही कवि ने किसी राजनीतिक घटना या चरित्र को देखा है।''[66]

कवि जनता से जनतांत्रिक होने की प्रक्रिया जिसमें एक बेबसी का कुरूप छिपा है, का स्पष्ट उल्लेख करता है-

''धरती के अन्दर का पानी

हमको बाहर लाने दो

अपनी धरती अपना पानी

अपनी रोटी खाने दो।''[67]

भ्रष्ट नेताओं ने अपने आपको भारत का भाग्य विधाता मान लिया है। स्वतंत्रता

---

65 रघुवीर सहाय, हँसो हँसो जल्दी हँसो : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ.-26, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1975

66 नन्दकिशोर नवल, इन्द्रप्रस्थ भारती, अंक-2, वर्ष 4, अप्रैल-जून 91 : रघुवीर सहाय की काव्य यात्रा।

67 रघुवीर सहाय, पानी पानी : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ.-6, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1975

के बाद भारतीय राजनीति एवं व्यवस्था में उन्होंने अनेक प्रकार की विसंगतियाँ उत्पन्न कर दी हैं। भ्रष्ट प्रशासन तंत्र के कारण आम आदमी की यातनापरक स्थिति और बढ़ गई। नेताओं ने जनता के दुखों के बारे में वर्षों तक कुछ नहीं जानना चाहा। कवि पूरे देश की भयावह स्थिति को पहले से अधिक विस्तारित रूप में देख रहा है। किन्तु कवि दुखों का वर्णन दरबार में नहीं करना चाहता क्योंकि सत्ता यथास्थितिवादी है। वह उस वक्त का इन्तजार कर रहा है जब हर व्यक्ति की भावदशा में एकसूत्रता आ जाए।

''मैं अभी आया हूँ सारा देश घूमकर
पर उसका वर्णन दरकार में करूँगा नहीं
राजा ने जनता को बरसों से देखा नहीं
यह राजा जनता की कमजोरियां न जान सके इसलिए''।[68]

कवि हँसते हुए लोगों की हँसी देखकर यह पाता है कि हँसकर ये लोग बहुत बड़ा दर्द भीतर में छिपाए हुए होते हैं। उस हँसी में भोगे हुए जीवन की पूरी एक व्यथा छिपी होती है। कवि ने यदि 'आत्महत्या के विरूद्ध' काव्य संग्रह में एक कविता 'नयी हँसी' के माध्यम से हँसी का सीमित अर्थ (शासक वर्ग) लिया तो यहाँ इस काव्य संग्रह 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' में पूरा एक समाज (शोषित) है। लोठार लुट्से ने हँसो हँसो जल्दी हँसो' शीर्षक कविता को केन्द्र बनाकर कवि के हँसी के बारे में उनसे पूछा। जवाब में रघुवीर सहाय निम्न पंक्तियाँ कहीं-''यह मैं कहूँगा कि इस 'नयी हँसी' नाम की कविता और 'हँसों' नाम की कविता के बीच अनुभव का काफी बड़ा विस्तार है और 'नयी हँसी' में तो केवल एक व्यक्ति पर फोकस है-एक व्यक्ति-जिसका नाम यहाँ महासंघपति दिया है यह-''कहे महासंघपति पच्चीस बार हम करेंगे विचार, आँख मारकर पच्चीस बार हँसे वह पच्चीस बार हँसे बीस अखबार''- अपनी दृष्टि को या जेसे आप कहें कैमरे को लेकिन यह तो पूरी एक भीड़ है लोगों की।''[69]

---

68 रघुवीर सहाय, दो अर्थ का भय : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ.-3, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1975

69 रघुवीर सहाय, यथार्थ यथास्थिति नहीं, सम्पादक डॉ. सुरेश शर्मा, पृ. 83, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1994

कवि स्त्री, लड़की, प्रकृति, बूढ़ों के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को काफी गंभीर सोच में विकसित एवं परिवर्तित कर लेता है। अब केवल स्त्री का चित्रण यथार्थवादी ढंग से ही नहीं करता बल्कि वह उनकी बचपन से जवानी तक की वेदनापरक स्थिति को जान लेना चाहता है।

''उसी रोने में हमें जाननी थी एक पूरी कथा
उसके बचपन से जवानी तक की कथा।''[70]

विवेच्य कविता संग्रह में कवि का काव्य-व्यक्तित्व शब्दों को अब केवल सीमित अर्थों में नहीं लेता बल्कि वह शब्दों के बहुआयामी अर्थ लेता है। कवि राजनीति को जनता की आँख से बखूबी देख रहा है। वह जीवन की मानवीय त्रासदी को राजनीति द्वारा बनाया गया एक प्रपंच मानता है। मानवीय त्रासदी को कवि पुरजोर शब्दों में उकेरता है। कवि यहां अन्याय और बेबसी की सूक्ष्म क्रियाओं में अध्ययनरत दिखाई देता है। कवि स्त्री और बच्चों के प्रति नैतिकता का आग्रह करता है। 'रघुवीर सहाय की कविताएँ पढ़ते हुए' शीर्षक लेख में विजय कुमार लिखते हैं-''हँसो हँसो जल्दी हँसो' के रघुवीर सहाय में शब्दों का खिलवाड़ तोड़फोड़, सिनिसिज्म, विट और विद्रूप बोध जैसे एकाएक बहुत कम हो गया है। इसकी जगह समकालीन समाज में साधारण और कमज़ोर मनुष्य की बेबसी का स्वर अधिक मुखर हुआ है। यहाँ कवि के स्वर में आक्रमकता नहीं, एक अंतरंग नैतिक विकलता का रंग अधिक उभरा है। इस संग्रह की कविताओं में हमारे समाज में क्रूरता, अन्याय और बेबसी की सूक्ष्म और नामालूम प्रक्रियाओं का अध्ययन है।''[71]

उप-अध्याय-(च) : 'लोग भूल गए हैं' (1982)के दौर में कवि का काव्य-व्यक्तित्व

रघुवीर सहाय का एक अन्य महत्त्वपूर्ण काव्य-संग्रह लोग भूल गए हैं सन् 1982

---

70 रघुवीर सहाय, औरत की जिन्दगी : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ.-12, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1975

71 विजय कुमार, रघुवीर सहाय की कविताएँ पढ़ते हुए : रघुवीर सहाय, संपादक : विष्णु नागर/असद ज़ैदी, पृ. 114, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण-1993

में साहित्य जगत् में आया। इसमें सन् 1975 से लेकर 1982 के मध्य में रचित कवि की कुल 63 कविताएँ संकलित है। कवि का काव्य-व्यक्तित्व यहाँ मानवीय रिश्तों को बिगड़ने से बचाने के लिए जागरूक हो उठा। अन्याय और दासता की पोषक और समर्थक शक्तियों से मानवीय रिश्तों के संरक्षण हेतु कवि यहाँ संघर्षरत दिखाई देता है।

''संघर्ष की रणनीतियाँ उन्हीं के आदर्शों की पूर्ति करती दिखाई दे रही हैं जिनके विरूद्ध संघर्ष है क्योंकि संषर्ष का आधार नए मानवीय रिश्तों की खोज नहीं रह गया।''[72]

अमानवीय और संहारक शक्तियों के बीच मनुष्य की रचनात्मक क्षमता को बचाने के क्रम में कवि का काव्य-व्यक्तित्व एक अधूरेपन की व्यथित वेदना से ग्रस्त दिखाई देता है। कवि अपने वर्तमान दौर से बार-बार बाहर आकर अपना अधूरापन पाठकों को दिखाना चाहता है। कवि का यह अधूरापन समाज के वर्तमान दौर के दबाव से उपजा है। कवि का अधूरापन तभी दूर होगा जब समाज उसको ठीक तरह से समझेगा। उसकी सच्ची पीड़ा और वेदना को आत्मसात् करेगा क्योंकि समाज की पीड़ा कवि की पीड़ा है। अतः कवि की पीड़ा में समाज अपना वास्तविक रूप देखेगा। वास्तविक रूप समाज को तभी दिखाई देगा जब समाज कवि की जाँच-पड़ताल करेगा। कवि समाज के सामने इसके लिए उपस्थित होना चाहता है। कवि यदि समाज के सामने उपस्थित न हो तो उसको दो बहुत बड़े खतरे दिखाई देते हैं-

1. कवि को डर है कि कहीं वह क्रांति का पुजारी या मसीहा बनकर अपने कर्त्तव्य से पीछे न हट जाए।
2. कहीं आत्मदया के आत्मपीड़क भाव में लिप्त होकर लोगों की रागात्मक शक्ति का शोषण न करे। उसकी वेदना को भटकाए न।

स्वयं रघुवीर सहाय के शब्दों में-''अपनी कविता के वर्तमान दौर में से एक बार बाहर आकर अपना अधूरापन पाठकों को दिखाने के पीछे समाज के वर्तमान दौर का

---

72 रघुवीर सहाय, निवेदन : लोग भूल गए हैं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-1989

एक दबाव है जो कवि पर पड़ रहा है। अपने को पूरा करना अपने अधूरेपन को समाज के सामने परीक्षा और पड़ताल के वास्ते लाए बिना आज सम्भव नहीं रह गया है। ऐसा न करूँ तो मुझे दो बड़े खतरे खड़े होते दीखते हैं जो वास्तव में एक ही के दो रूप है : कवि कहीं क्रान्ति का पुजारी और मसीहा एक साथ बनकर दिखाने में अपने कर्त्तव्य से भागने का रास्ता न निकालने लगे, या कहीं आत्मदया के आत्मपीड़क भाव में लिप्त होकर लोगों से वैसी सहानुभूति न माँगने लगे जो न केवल लोगों की रागात्मक शक्ति का शोषण करेगी बल्कि उन्हें स्वयं अपनी वेदना पहचानने में भटकायेगी। जिस एक खतरे के रूप में ये दोनों हैं वह अहंवाद का ही खतरा है।''[73]

कवि ने इस संग्रह की कविताएँ काव्य-जीवन के उस दौर में लिखी हैं जो अभी हाल ही में शुरू हुआ है। और शुरू होकर अभी निपटा नहीं है। कवि का व्यक्तित्व यहाँ कई तरह की समस्याओं से जूझ रहा है। कवि यहाँ दुनिया में पैर नहीं रख रहा था बल्कि वह कबीर की तरह दुनिया के बीच में खड़ा था। कवि समाज को समझ नहीं रहा था, बल्कि उसको भोग रहा था। कवि का अनुभव सीमित नहीं बल्कि व्यापक हो रहा था। और वह व्यापक अनुभव सीमित समय में खत्म नहीं हो सकता था, बल्कि निरन्तर बढ़ता ही जा रहा था। इसीलिए इस काव्य संग्रह को कवि ने निष्कृति का सूचक नहीं माना जबकि इससे पूर्व में सीमितता का अर्थ ग्रहण करते हुए कवि ने 'आत्महत्या के विरूद्ध' और 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' को निष्कृति का सूचक माना है।

''इसके पूर्व-'आत्महत्या के विरूद्ध' और 'हँसो जल्दी हँसो' दोनों एक-एक निष्कृति के सूचक थे।''[74]

कवि ने समय की सच्चाई को बिल्कुल नए धरातल पर आकर अभिव्यक्ति दी है। इस नए धरातल पर कवि ने शिल्प को भी तोड़ा हे। शब्दों से खिलवाड़ करना अब कवि का काम नहीं रह गया है। उस शब्द में अपने संवेदन यंत्र को दुरूस्त रखना,

---

73 रघुवीर सहाय, निवेदन : लोग भूल गए हैं, पृ. 7, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-1989

74 वही

बेचैनी, छटपटाहट, अपराध-बोध की पीड़ा को अभिव्यक्त करना इत्यादि कवि के लिए कवि व्यक्तित्व की समृद्धि के लिए प्रथम शर्त है। और यही काव्य का भी स्रोत है। चन्द्रकांत वान्दिवेडकर-''यह मानने की भूल न करना कि कविता शब्दों के माध्यम से रची जाने पर भी शब्द ही सब कुछ हैं। शब्दों के चुनाव और संयोजन के पीछे जो कवि व्यक्तित्व कार्यरत रहता है और जो ध्वनि की तरह ही शब्दों में अँटते हुए भी शब्दों के माध्यम से पकड़ा जाता है, उस कवि व्यक्तित्व की समृद्धि ही वह प्रथम शर्त है।''[75]

'लोग भूल गए हैं' में कवि जनता को याद दिलाना चाहता है कि जनता के पास कुछ था, जो वह भूल गए हैं। कुछ था, जो उन्होंने खो दिया है। और लगातार खो रहे हैं। यह 'खोना' अस्मिता, मूल्यों और मनुष्यता का खोना है। मानव से अमानवीय होना है। लोग न्याय और बराबरी के जनमजात आदर्शों को भूल चुके हैं। उनको याद दिलाने के लिए मनुष्यों की एक बहुत बड़ी संख्या होती है किन्तु वह अपना कर्त्तव्य ठीक तरह से नहीं निभाते हैं। वे लोगों में चेतना जागृत नहीं करते। वे इतिहास को तोड़ मरोड़कर वर्तमान के पतन की घोषणा करते हैं। ये लोग निरक्षर नहीं साक्षर हैं। जो निरक्षर हैं वह वर्तमान कविता से जीवन की कविता को पढ़कर एक ऐसी कविता बनाएँगे जो वर्तमान कविता से ज्यादा बड़ी और सच्ची होगी।

कवि कला और कलाकार के रिश्ते के बारे में बहुत ही गहराई से सोचता है। कवि यह पाता है कि कलाकार 'अद्वीतीय' नहीं होता। व्यक्ति को कला अद्वितीय नहीं बनाती बल्कि वह जन्म से ही अद्वितीय होता है। कवि लोगों की इस धारणा का खंडन करता है कि कला और कलाकार अद्वितीय होते हैं। अद्वितीय लोगों के अद्वितीय विचार जब भीने अवलेह में लपेटकर (बनावटी) उसे कला का रूप दिया जाता है तो वह कला सच्ची कला न होकर आडम्बरपूर्ण कला है। कवि ऐसी ही कला एवं कलाकार का विरोध करता है-

---

75 चन्द्रकान्त वान्दिवडेकर, समकालीन कवि दृष्टि और बोध, सम्पादक-रतन कुमार पाण्डेय, पृ. 126, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2002

''अद्वितीय हर एक है मनुष्य
औ उसका अधिकार अद्वितीय होने का
छीनकर जो खुद को अद्वितीय कहते हैं
उनकी रचनाएँ हों या उनके हों विचार
पीड़ा के एक रसभीने अवलेह में लपेटकर
परसे जाते हैं तो उसे कला कहते हैं।''[76]

उपर्युक्त पंक्तियों के बारे में 'सृजनशीलता का संकट' में नित्यानंद तिवारी ने लिखा है कि ''रघुवीर सहाय इस कला बुद्धि के विरोध में हैं। इसे वह 'कला' यानी आडम्बर मानते हैं।''[77]

कवि सच्ची एवं अनुभवजन्य कला को ही सच्ची कला मानता है। और ऐसी कला में परिवर्तन करने की क्षमता होती है किन्तु बनावटी कला में परिवर्तन करने की क्षमता नहीं होती-

''कला बदल सकती है क्या समाज?
नहीं, जहाँ बहुत कला होगी, परिवर्तन नहीं होगा।''[78]

चन्द्रकान्त वन्दिवडेकर के शब्दों में-''कवि व्यक्तित्व के रूप में रघुवीर सहाय की पहली लड़ाई उन शिलीभूत करने वाली स्थितियों, परम्पराओं, मान्यताओं से है जो कला और व्यक्तित्व की अद्वितीयता को गलत रूप में प्रस्तुत करती है। पीड़ा के रसभीने अवलेह में लपेटकर परसी जाने वाली रचनाओं से या अपने कुएँ में झाँककर अपनी अद्वितीयता को औरों से सुरक्षित रखने वाले कवि व्यक्तित्व से उनकी लड़ाई है। यह एक पिसते जा रहे शोषित (शोषण के सब प्रकार) समाज की ओर से लड़ाई है।''[79]

---

76 रघुवीर सहाय, निवेदन : कला क्या है : लोग भूल गए हैं, पृ. 12, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-1989

77 डॉ. नित्यानन्द तिवारी, सृजनशीलता का संकट, पृ. 121, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1991

78 रघुवीर सहाय, कला क्या है : लोग भूल गए हैं, पृ. 712, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-1989

79 चन्द्रकान्त वान्दिवडेकर, समकालीन कवि दृष्टि और बोध, सम्पादक-रतन कुमार पाण्डोय, पृ. 126, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2002

कवि कबीर की तरह समाज को बदलना चाहता है। वह लोगों में चेतना जागृत करना चाहता है। लोग जो भूल गए हैं उनको याद दिलाना चाहता है। वह आम आदमी की पीड़ा को वाणी देना चाहता है। सामाजिक चेतना और रचनात्मक अभिव्यक्ति का दौर कवि के लिए अभी समाप्त नहीं हुआ है। वह अभी भी जारी है। कवि अब भी अपना फ़र्ज पूरा कर रहा है- चंद्रकांत वान्दिवडेकर के ही शब्दों में-''यह कवि व्यक्तित्व लौकिक जीवन में भले ही कुर्सी पर बैठे कलम घिसता रहे, जब तक दुनिया की हालत को देखकर कबीर की तरह रो सकता है तब तक अपना फ़र्ज पूरा कर रहा है।''[80]

कवि का काव्य-व्यक्तित्व जवाबदेही शासन के प्रति प्रतिबद्ध है। कवि चाहता है कि अत्याचारों की पूरी जाँच-पड़ताल हो। कवि हिटलरवादी शासन नहीं चाहता। वह हिटलरवादी शासन को खत्म करना चाहता है। कवि अराजकता की स्थिति को बराबर देख रहा है। विवेच्य काव्य-संग्रह में भी कवि 'हत्या' की भयावह स्थिति पाता है। व्यक्ति की हर मोड़ पर पूर्वनिर्धारित रूप से हत्या कर दी जाती है। और समाज खड़ा होकर देखता ही रह जाता है। इसमें एक मर्मस्पर्शी वेदना अपने वीभत्स रूप में जागृत हो जाती है। व्यवस्था की मार आम आदमी और उसके परिवार पर पड़ रही है। कमज़ोर की हत्या पर कोई रोता नहीं है। आज के दौर में हिंसा बहुत ही आसान है क्योंकि इस हिंसा में राज्य का आश्रय है और क्षमादान है। ताकतवर लोग खोजते रहते हैं कमजोरों को मारने के लिए-

''हिंसा केवल हिंसा कितनी आसान है
उसमें राज्याश्रय है उसमें क्षमादान है
ताकतवर लोग खोजते हैं कमजोर को
एक तरफ अस्पताल, झोपड़ी, हजार वर्ष से
वंचित जाति वर्ग लाश लुटे लोग।''[81]

हिंसा को राजनीति प्रश्रय दे रही है और राजनीतिज्ञ अपने स्वार्थों के लिए ऐसे

---

80 चन्द्रकांत वान्दिवडेकर, समकालीन कवि दृष्टि और बोध, सम्पादक-रतन कुमार पाण्डेय, पृ. 126, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2002

81 रघुवीर सहाय, कैसियस क्ले की हार : लोग भूल गए हैं, पृ. 38, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-1989

हिंसक लोगों को पाल रहे हैं। वह अपने स्वार्थों के लिए दूसरों का लहू बहाकर यह गर्व से कहते हैं कि हम देश के रक्षक हैं, देश की लाज बचा रहे हैं किन्तु ऐसे ही नेता देश के भक्षक हैं। उनका हृदय अन्दर से उतना ही गंदा होता है जितना वह बाहर से साफ दिखाई देते हैं। ठीक इसी प्रकार का चिंतन रामधारी सिंह दिनकर द्वारा रचित 'कुरूक्षेत्र' खण्ड-काव्य की प्रारम्भिक पंक्तियों में देखा जा सकता है-

"वह कौन रोता है वहाँ
इतिहास के अध्याय पर,
जिसमें लिखा है, नौजवानों के लहू का मोल है
प्रत्यय किसी बूढ़े, कुटिल नीतिज्ञ के व्यवहार का
जिसका हृदय उतना मलिन जितना कि शीर्ष वलक्ष है;
जो आप तो लड़ता नहीं,
कटवा किशोरों को मगर,
आश्वस्त होकर सोचता,
शोणित बहा, लेकिन गई बच लाज सारे देश की?"[82]

कवि का व्यक्तित्व राजनीतिज्ञों को बहुत ही अच्छी तरह से समझ रहा है। उनके अच्छे-बुरे सभी कार्यों का विश्लेषण कर रहा है। कवि (रघुवीर सहाय) राजनीति के द्वारा बनाए गए 'डर के वातावरण' के प्रति सजग है। कवि डर के कारणों के तह में जाता है। कवि यह पाता है कि लोग उस डर को भूल चुके हैं- जिस डर का कुछ उपाय था। अब लोग उस डर को जानते हैं जिसका कारण उन्हें नहीं पता कि यह दुख या डर उन्हें क्यों दिया या बनाया जा रहा है? कवि कहना चाहता है कि जनता को उस डर का समाधान करना चाहिए था जो उन्होंने लम्बे समय से भोगा है। अगर वे ऐसा करते तो शायद आज का यह डर या दुख नहीं होता। शायद जनता मानवीय इतिहास को भूल चुकी है।

"लोग भूल गए हैं एक तरह के डर को जिसका कुछ उपाय था

---

82 रामधारी सिंह दिनकर, प्रथम सर्ग : कुरूक्षेत्र, पृ.-9, राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट दिल्ली, तीसरा संस्करण-1975

एक और तरह का डर अब वे जानते हैं जिसका

कारण भी नहीं पता।''[83]

मानवीय इतिहास को भूल जाने के संदर्भ में कृष्णदत्त पालीवाल ने कहा है कि- ''मानवीय इतिहास को भूल जाने के नतीजे हर जाती को भुगतने पड़ते हैं। उस जाति को तो और ज्यादा भुगतने पड़ते हैं- जो मरने वालों की पीड़ा के कारणों पर समग्रता से विचार नहीं करती। जीवन की 'ऊब' और 'सतही मुस्कान' के अर्थ खोजते ही होंगे- उन्हीं के भीतर आदमी की पीड़ा बन्द है।''[84]

विवेच्य काव्य संग्रह में कवि आजादी का खंडित स्वप्न, स्त्री, कला, शोषण, राजनीति इत्यादि के बीच ही घिरा हुआ है। किन्तु कवि यहाँ इतिहास की व्याख्या नए संदर्भों में करता है। कवि इतिहास की अमानवीय स्थितियों के कारणों को जान लेना चाहता है। कवि शासन को सवालों के घेरे में लाना चाहता है। बहरहाल कवि का काव्य-व्यक्तित्व यहाँ व्यक्तित्व की अद्वितीयता के विरूद्ध है। कवि का व्यक्तित्व यहाँ बनावटी कला का विरोध करता है। कवि जीवन की सहज असलियत को व्यक्त करना चाहता है। वह समाज में बौद्धिक सतर्कता की बेचैनी उत्पन्न करना चाहता है। 'राजनीति विशेष' जो कि शोषण पर आधारित है, को खत्म करना चाहता है।

उप-अध्याय (छ) : 'कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ' के दौर में कवि का काव्य-व्यक्तित्व

रघुवीर सहाय की कविताओं का एक अन्य महत्त्वपूर्ण काव्य संग्रह कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ' नाम से सन् 1989 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में कवि द्वारा सन् 1982 से लेकर 1989 तक के मध्य में रचित कविताएँ संकलित हैं। 'कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ' काव्य संग्रह में कवि फिर एक बार समाज के सामने सामाजिक चेतना और रचनात्मक अभिव्यक्ति की जागृति लेकर पाठकों के सामने, समाज के सामने उपस्थित

---

83 रघुवीर सहाय, लोग भूल गए हैं : लोग भूल गए हैं, पृ. 45, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-1989

84 कृष्णदत्त पालीवाल : 'प्रकर' : अगस्त 85 : पृ. 12

है। कवि के लिए संघर्ष का दौर अभी समाप्त नहीं हुआ है। कवि के ही शब्दों में-''पिछले संग्रह की कविताएँ लिखते समय सामाजिक चेतना और रचनात्मक अभिव्यक्ति के जिस दौर के बीच से कवि अपनी कविताएँ लेकर पाठकों के सामने अपनी परीक्षा के लिए उपस्थित हुआ था वह दौर भी समाप्त नहीं हुआ है।''[85]

रघुवीर सहाय की ये कविताएँ आज़ादी के बाद का हाल बहुत ही बीभत्स रूप में दिखाती है। रघुवीर सहाय की विवेच्य संग्रह की कविताएँ सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक स्थितियों को जीवन की सार्थकता से जोड़कर देखती है। इस संग्रह की कविताओं का यथार्थ बिल्कुल बदल सा गया है। यथार्थ के भीतर भी छिपे यथार्थ की खोज कर कवि ने सबको झकझोर दिया है। बदलते यथार्थ के साथ कवि ने कविता गढ़ी है। 'कविता में आजादी के बाद का हाल' नामक शीर्षक लेख में प्रयाग शुक्ल कहते हैं-''हर दौर के यथार्थ ने उनकी कविता को बदला है और उनकी कविता ने बदलते यथार्थ को पहचान सकने लायक औज़ार गढ़े हैं या उन्हें और परिष्कृत किया है।''[86]

इसी संदर्भ में रघुवीर सहाय द्वारा रचित 'साइकिल रिक्शा' की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

> ''आओ इक्कीसवीं सदी के इंजीनियर
> ईजाद साइकिल-रिक्शा ऐसी करें
> जिसमें सवारी और घोड़ा अगल-बगल
> तफरीहन बैठे हों
> मगर आप पूछेंगे इससे क्या फायदा?
> वह यह कि घोड़े को कोई मतभेद हो
> पीछे मुँह मोड़कर पूछना मत पड़े।''[87]

---

85 रघुवीर सहाय, निवेदन : कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ, पृ. 7, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-1989

86 प्रयोग शुक्ल, कविता में आजादी के बाद का हाल- शीर्षक लेख, पुस्तक-रघुवीर सहाय, संपादक-विष्णु नागर/असद ज़ैदी, पृ 61, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण-1993

87 रघुवीर सहाय, साइकिल रिक्शा : कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ, पृ. 84, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-1989

कवि ने यहाँ उपर्युक्त कविता में यह दर्शाया है कि आजादी के इतने दिनों बाद यानी 21वीं सदी में भी साइकिल-रिक्शा चालक आज भी घोड़ा ही बना हुआ है। वह आदमी न होकर जानवर की स्थिति में है। साइकिल बनाने की तकनीक की पीछे जिस अज्ञानता या विचारहीनता का परिचय दिया गया है, कवि ने उसको यथार्थवादी ढंग से अभिव्यक्ति दी है। तकनीक की नासमझी ने ही उसकी शक्ल को (जब वह पीछे मुड़कर देखता है) घोड़े की शक्ल में परिवर्तित कर दिया है। कवि यह अनुभव करता है कि जो समस्याएँ आज हमारे सम्मुख उपस्थित हैं, वह हमारे पूर्वजों के समक्ष दूसरी प्रकार की थीं। कवि का व्यक्तितव विकल्प की चेतना साकार हो उठती है। कवि चाहता है कि रचना पतन का विकल्प जागृत करे। इसी में साहित्य और समाज की उपलिब्ध है। कवि के ही शब्दों में- "मैं फिर दोहराना चाहता हूँ कि वह रचना जो पाठक या श्रोता के मन में पतन का विकल्प जागृत नहीं करती, न तो साहित्य की उपब्धि होती है न समाज की।"[88]

कवि रचना विरोधी उद्देश्यों को सफल नहीं होने देना चाहता। क्योंकि रचना-विरोधी उद्देश्य परम्परा को विश्व को पीछे लौटाते हैं। इसीलिए कवि रचना-विरोधी उद्देश्यों को निरस्त करने के लिए कुछ पतों पर चिट्ठियाँ लिख रहा है। किन्तु यह चिट्ठियाँ, चिट्ठियाँ नहीं बल्कि कविताएँ हैं। कवि ऐसा इसीलिए कर रहा है क्योंकि पते बदलते रहते हैं, किन्तु कविता की जमीन व्यक्ति, समाज, राष्ट्र इत्यादि के प्रति प्रबिद्ध रहती है। कवि लोगों को आमंत्रित कर रहा है कि वह अपने व्यक्ति समाज, राष्ट्र, हत्या रहित संस्कृति और विश्वउपलब्धियों को बचाने के लिए घरों से निकल संघर्ष के लिए सतर्क रहना पड़ेगा।

रघुवीर सहाय का काव्य-व्यक्तित्व विवेच्य संग्रह में भाषा को बहुत ही बारीकी से लेता है। कवि भाषा के महत्व को स्थापित करते हुए बताता है कि भाषा मनुष्यों को आत्मिक बल प्रदान करती है। किन्तु आज आजादी के बाद भाषा का व्यावसायीकरण

---

88 रघुवीर सहाय, निवेदन : कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ, पृ. 7, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-1989

और राजनीतिकरण हो गया है, जिसने भाषा की रचनात्मकता और उसकी क्षमता को विभिन्न प्रकार से विकृत और कुंठित किया है। कवि का यह मानना है कि आज़ादी के बाद ऐसा पहली बार हुआ है कि उन्होंने भाषा को भी गुलामी के दायरे में ला दिया है। कवि रचनात्मकता की लड़ाई को आजादी की लड़ाई, समता की लड़ाई को कविता की ही लड़ाई मानता है। और यही मानवीय उत्कर्ष के पर्याय हैं।

''भाषा के अनेक प्रकारों पर व्यावसायिक और राजनैतिक कब्जे ने भाषा की रचनात्मकता को अनेक प्रकार से विकृत और कुंठित किया है।... जिस तरह रचनात्मकता और आज़ादी एक ही मानवीय आकांक्षा के पर्याय हैं, उसी तरह समता की लड़ाई और कविता भी एक ही मानवीय उत्कर्ष के पर्याय हैं।''[89]

विवेच्य संग्रह में संकलित कविता 'आज की कविता' शीर्षक में कवि रचनाकार से कुछ आशाएँ रखता है कि वह अपनी रचनाओं में गंदगी, गरीबी और गुलामी से पैदा होने वाली समस्याओं की अभिव्यक्ति को जगह दे। गंदगी, गरीबी और गुलामी से फैले आतंक को ध्वस्त करे। किन्तु आज के रचनाकार ऐसा नहीं कर रहे हैं। वे तो अपनी कविताओं से केवल हत्यारों का साथ दे रहे हैं। कवि इसी बात से क्षुब्ध है। आज की कविता व्यक्ति को लाचार बनाती है-

''क्यों कलाकार को नहीं दिखाई देती अब
गंदगी, गरीबी और गुलामी से पैदा?
आतंक कहाँ छिपा भाग कर जीवन से
जो कविता की पीड़ा में अब दिख नहीं रहा?''[90]

कवि हत्यारों के चरित्र को एकदम खोलकर रख देता है। जनता की मूक आवाज़ मूक ही बनी रहती है। और कोई रोना-धोना नहीं होता। हत्यारे मौत देते हैं और वह मौत शानदार मौत बन जाती है क्योंकि वह मौत बहुत ही बेरहमी से की गई होती है। कवि

---

89 रघुवीर सहाय, निवेदन : कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ, पृ. 7, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-1989

90 रघुवीर सहाय, आज की कविता : कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ, पृ. 13, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-1989

का यही संकट पराजय बोध है। कवि चाहता है कि मानवीय अधिकारों के प्रति संघर्ष हो। हम लड़ाई में उन्हीं आदर्शों की पूर्ति न करें जिनके विरूद्ध संघर्ष है।

कवि देश की संस्कृति को 'हत्या की संस्कृति' कहता है। 'हत्या की संस्कृति' फैशनेबल संस्कृति हे। फैशनेबल संस्कृति वास्तविक संस्कृति को नष्ट कर रही है। संस्कृति लोगों की आंतरिक तथा मानसिक उन्नति की परिचायक होती है। धर्म, राजनीति, भाषा सभी दृष्टियों से भारत में सांस्कृतिक एकता के दर्शन होते हैं। और इसी क्रम में बुद्ध और गाँधी भी नजर आ जाते हैं। किन्तु फैशनेबल या पॉपुलर सस्कृति ने समाज में लोकप्रिय वस्तु या विचार को कैद कर लिया है। कवि ने ऐसी ही संस्कृति को हत्या की संस्कृति कह कर सम्बोधित किया है। और यह हत्या की संस्कृति महानगरों में एक वाइरस की तरह फैल रहा है।

कवि इस आत्मघाती संस्कृति में अपनी पीड़ा को बंद नहीं होने देना चाहता है। रघुवीर सहाय की कविता में ऊषा, चिड़िया, राष्ट्रभावना, बच्चा, स्त्री, प्रकृति, दुख, वासना सभी कुछ है किन्तु सभी में कवि की पीड़ा एक जैसी ही है। कवि अपनी पीड़ा को अलग-अलग डिब्बों में बंद होने नहीं देना चाहता। क्योंकि इससे उसकी शोषण के विरूद्ध संघर्ष की अभिव्यक्ति कमजोर पड़ जाएगी। कवि की स्वीकारोक्ति निम्न है-

''अलग-अलग डब्बों में मेरी
पीड़ाएँ मत बंद कीजिए
जिन्हें एक में मिलाजुला कर
मैंने की थी ये रचनाएँ।''[91]

बहरहाल रघुवीर सहाय का व्यक्तित्व यहाँ सामाजिक चेतना और रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए समाज और स्वयं के सम्बंधों को संश्यात्मक दृष्टि से देखता है। कवि कुछ करना चाहता है किन्तु समाज उसके लिए अभी तैयार ही नहीं दिखता। संघर्ष का दौर कवि के लिए अभी समाप्त नहीं हुआ है। वह दौर अभी भी अपनी जीवंत अवस्था में

---

91 रघुवीर सहाय, समाधि लेख : कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ, पृ. 77, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-1989

बरकरार है। कवि का व्यक्तितव वैज्ञानिक तकनीक को एक स्तर पर आकर नासमझी के तरीके के रूप में पहचानता है जो मानवीय मूल्यों को खत्म कर वैज्ञानिक शब्दावली में तब्दील कर रहा है। और राजनीति लोकतांत्रिक मूल्यों को ध्वस्त कर रही है। संसार में नवयुग नहीं बल्कि विध्वंस का युग आ रहा है। यह कैसा नवयुग है जहाँ भूख से प्यासा अकुला रहा है, स्त्री चालीस की होकर भी ग्राहक को लुभा रही है, बच्चा दूध की जगह चने खा रहा है, राष्ट्रभावना नहीं राष्ट्रहीनता आ रही है, हर दु:ख को रोज़-रोज समझना पड़ रहा है। और इसी क्रम में कवि पतों पर चिट्ठियाँ लिख रहा है।

उप-अध्याय (ज) : 'एक समय था' के दौर में कवि का काव्य-व्यक्तित्व

सन् 1990 के दौर में साहित्य जगत को एक बहुत बड़ी क्षति से गुजरना पड़ा। इस क्षति की भरपाई शायद हिन्दी जगत में आज तक किसी ने भी नहीं की। वह छति थी-लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण के लिए संघर्षरत सुविख्यात कवि रघुवीर सहाय का निधन। 30 दिसम्बर सन् 1990 को शाम साढ़े सात बजे अपने घर पर प्रेस काऊंसिल ऑफ इंडिया की रिपोर्ट को अधूरी छोड़ रघुवीर सहाय ने अपने कवि-कर्म को तिलांजली देकर अपनी आँखें सदा-सदा के लिए मूँद लीं। रघुवीर सहाय की मृत्यु के उपरान्त सन् 1995 में राजकल प्रकाशन ने उनका अंतिम (मरणोपरान्त) काव्य-संग्रह 'एक समय था' प्रकाशित किया। इस संग्रह के संपादक और संकलकर्त्ता सुरेश शर्मा हैं। इस संग्रह में रघुवीर सहाय की कुल 78 कविताएँ संकलित हैं।

इस संग्रह में उन कविताओं को भी जगह दी गई, जो सन् 1972 में प्रकाशित नहीं हुई थीं एवं 1989 से लेकर 1990 तक के मध्य रचित थीं।

यह संग्रह कवि व्यक्तित्व के विकास का चर्मोत्कर्ष था। जनतांत्रिक संवेदनशीलता के प्रति कवि का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से जागरूक हो चुका था। कवि ने इस दौर में कुछ व्यापक कारणों की तलाश की जिसने विकास के मार्ग को अवरूद्ध कर रखा था। कवि ने पाया कि सामाजिक-राजनीतिक कारणों में सामाजिक निराशा और लोकतांत्रिक मूल्यों का मूल्यहीन होना है।

कवि का व्यक्तित्व अभी भी 'हत्या' को लेकर बहुत गम्भीर है। कवि को लगता

है कि हत्यारों के रगों-रगों में 'हत्या' शब्द दौड़ रहा है और हत्यारों का व्यक्तित्व तानाशाही व्यक्तित्व बन गया है। कवि अपने व्यक्तित्व (जिसमें सत्य, मानवता, धर्मनिरपेक्षता, समानता जैसे मूल्य हैं) को तानाशाही व्यक्तित्व के विरोध में खड़ा करता है। कवि राजनीति का अपराधिकरण होते हुए देखता है। रोटी के लिए व्यक्ति को मरते देखता है। शासक वर्ग व्यक्ति को उसकी न्यूनतम आवश्यकताओं (रोटी, कपड़ा, घर) तक ही सीमित रख रहा है। व्यक्ति भाषा के माध्यम से अपना विरोध दर्ज करा रहा है लेकिन उसकी कहीं भी ुसनवाई नहीं है। कवि द्वारा रचित निम्न पंक्तियाँ-

''और उसने निडर होकर कहा
आप जनता की जान नहीं ले सकते
सहसा बहुत से सिपाही वहाँ आ गए''।[92]

कवि देश पर किसी भी प्रकार से गर्व नहीं कर सकता क्योंकि आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक सभी तरह से जनता का शोषण हुआ है। जनता सिर्फ एक मोहरा बन कर रह गई है। राष्ट्रीय गौरव केवल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ही सुनाई देता है, देश में नहीं। कवि अमीर लोगों और शिक्षित लोगों के बारे में बताता है कि उन्हें देश से किसी भी प्रकार का कोई लगाव नहीं है क्योंकि उनकी पीड़ा अलग है, उनके स्कूल अलग हैं, उनकी भूख और प्यास अलग है।

राजनीति मनुष्य की स्थिति को संचालित कर रही है। अमीरों के लिए भी राजनीति है किन्तु वह अलग तरह की राजनीति है। वह राजनीति शोषण पर आधारित अधिक से अधिक पैसा कमाने की है। व्यक्ति की वाणी में अब राष्ट्रप्रेम नहीं है, राष्ट्रभावना नहीं है, देश के प्रति जागरणवादी सोच नहीं है। अब केवल ढोंग पाखण्ड और झूठे रंग में रंगी अन्तराष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय गौरव रह गया है।

''देश पर मैं गर्व करने को कहता हूँ
उनसे जो अमीर है बड़े स्कूलों में पढ़े हैं

---

92 रघुवीर सहाय, प्रश्न : एक समय था, संकलन एवं सम्पादन- सुरेश शर्मा, पृ. 85, राजकमल प्रकाशन, नई दिलली, संस्करण-1995

पर उन्हें गर्व नहीं है

गर्व है भूखे-प्यासे अधपढ़े लोगों में।''[93]

कवि प्रकृति के प्रति सहज भाव भी रखता है। कवि प्रकृति के सहज रूप को प्राथमिकता देता है। कवि को लगता है कि प्रकृति का भी वैज्ञानिकता ने शोषण किया है। प्रकृति के सहज सौंदर्य को निखरने नहीं दिया है। कवि बनावटी आदर्श नहीं पालता।

''मैंने विचित्र लाल हरी चिड़िया,

घर के बनावटी बाग में नहीं पाली थी।''[94]

कवि का व्यक्तित्व स्त्री विषयक समस्याओं को लेकर विवेच्य संग्रह में भी प्रखर रूप में जागरूक है। स्त्री पर हुए जुल्मों से कवि का मन व्यथित है। वह स्त्रियों को सम्मान की दृष्टि से देखता है। कवि यह मानता है कि व्यवस्था तो अत्याचार कर रही है लेकिन उससे बड़ा अत्याचार स्त्री के स्वयं पुरखों ने किए हैं। पुरुष प्रधान समाज ने स्त्री की अस्मिता, नारीत्व, सद्भावना, त्याग, ममत्व सभी का गला घोटा है। उस पर तरह-तरह की पाबंदियाँ लगाई गई। यह पाबंदियाँ केवल किसी जीवन की खास सीमा तक नहीं बल्कि जीवनपर्यन्त तक जारी रहती हैं। 'स्त्री की उम्र' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

''अठारह बरस की लड़की से यह कहना कि तुम बेवकूफ हो

उसका रिझाना है

पर अड़तीस साल की औरत से यही कहना

उसे दुत्कारना है।''[95]

कवि अपने जीवन के अंतिम दिनों में भी भाषा के प्रश्न को मनुष्य के अस्तित्व

---

93 रघुवीर सहाय, बड़े देशों की राजनीति : एक समय था, संकलन एवं सम्पादन-सुरेश शर्मा, पृ. 17, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1995

94 रघुवीर सहाय, चिड़िए के सामने :एक समय था, संकलन एवं सम्पादन-सुरेश शर्मा, पृ. 69, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1995

95 रघुवीर सहाय, फर्क : एक समय था, संकलन एवं सम्पादन-सुरेश शर्मा, पृ. 111, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1995

के प्रश्न से जोड़कर देखता है। कवि यह मानता है कि वर्तमान समय में लोगों के पास जो भाषा है वह राजनीतिक व अन्य व्यावसायिक संस्थाओं के चलते नष्ट होती जा रही है। विभिन्न रचनाकार अपनी रचनाओं में प्रतिरोधात्मक स्वर नहीं अभिव्यक्त कर पा रहे हैं। जिस प्रकार भारतेन्दु को अपनी ही भाषा में तरक्की का मूल दिखा था, ठीक उसी तरह रघुवीर सहाय भी देखते हैं। भाषा पर अनेक तरह से हमले किए जा रहे हैं। यह हमले किसी न किसी का आवरण चढ़ा अपनी सार्थकता सिद्ध करने की होड़ लगा रहे हैं। कवि सार्थक भाषा की तलाश कर रहा है जो मर्म की गहराई को अन्दर तक छुए जिस पर भ्रष्ट प्रशासन का शासन न रहे। कवि भाषा के माध्यम से नए मानवीय सम्बंधों की खोज कर रहा है। कवि भाषा के बचे रहने का वरदान माँगता है, क्योंकि सृजनात्मकता ही शक्ति है-

"कविता यही करती है कि घोषणा
मरे हुए शब्दों में जब शोक प्रस्ताव करती है
भाषा को शक्ति दो यह प्रार्थना करके
कवि माँगता है बचे रहने का वरदान।"[96]

उप-अध्याय (झ) : निष्कर्षतः रघुवीर सहाय का व्यक्तित्व त्रिआयामी व्यक्तित्व था। दूसरे अर्थों में कहें तो वह रचनाकार, पत्रकार, राजनीतिकर्मी थे। रघुवीर सहाय का काव्य-व्यक्तित्व, मैत्रीपूर्ण, आलोचनात्मक और बहुत हद तक एक जोखिम भरा संवाद था। अहं का विसर्जन करके ही उनका व्यक्तित्व निर्मित हुआ था। उनका बाहरी जीवन एवं व्यक्तित्व बहुत सी पारिवारिक जिम्मेदारियों के बीच जीवन की सार्थकता को सार्थक बना रहा था। मध्यवर्गीय परिवार की आर्थिक परेशानियों को झेलते हुए उनके व्यक्तित्व का विकास हुआ एवं इसी क्रम में उन्होंने पारिवारिक जिम्मेदारियों को खूब निभाया। कवि का आंतरिक जीवन संवेदनशील था। इस संवेदना के केन्द्र में शोषित और निराश व्यक्ति का मर्माहान्तक दुख था। और इसी मर्माहान्तक वेदना से उनका कण्ठ फूटा था।

---

96 रघुवीर सहाय, भाषा की मृत्यु : एक समय था, संकलनकर्ता एवं सम्पादन-सुरेश शर्मा, पृ. 81, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1995

कण्ठ फूटते ही उनका साक्षात्कार हरिवंशराय बच्चन, गिरिजाकुमार माथूर, अज्ञेय, मुक्तिबोध इत्यादि से होता है। परम्परा का अनुकरण न कर कवि ने स्वयं एक परम्परा निर्मित की। उनके काव्य-व्यक्तित्व की अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति और ओजस्विता अपने युग की गम्भीर्यपूर्ण भाषा से पूर्ण होती है। वह जीवन विरोधी स्थितियों से संघर्ष के लिए शक्ति संगठित करते हैं। विष्णु नागर /असद जैदी के ही शब्दों में-

''रघुवीर सहाय जैसे व्यक्तित्व किसी भी भाषा के इतिहास में बहुत नहीं होते। साहित्य की विभिन्न विधाओं और रचनात्मकता के विभिन्न रूपों में सफलतापूर्वक काम करना कोई कम बड़ा काम नहीं है- जो रघुवीर सहाय ने भी किया- लेकिन ऐसी अप्रहित रचनात्मक विकलता के साथ प्रेमचन्द और मुक्तिबोध के अलावा सिर्फ़ उन्होंने किया। अपने को और समाज को निरन्तर जाँचने का काम ही आलोचनात्मक चुनौती है, इसे किसी और से ज्यादा रघुवीर जी ने स्थापित किया।''[97]

बहरहाल रचनाकार व्यक्तित्व का पत्रकार व्यक्तित्व एवं राजनीतिकर्मी व्यक्तित्व से किसी भी प्रकार का कोई विरोध नहीं है। रघुवीर सहाय के काव्य-व्यक्तित्व को उनके व्यक्तिगत जीवन से अलगाया नहीं जा सकता है। रघुवीर सहाय का बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी व्यक्तित्व एक मानसिक प्रक्रिया के अन्तर्गत अभिव्यक्त होता है। रघुवीर सहाय काव्य-व्यक्तित्व को एक लम्बे जीवन का कवि-कर्म, एक विस्तारित अनुभव मानते हैं। रघुवीर सहाय का प्रारम्भिक काव्य-व्यक्तित्व रोमानियत लिए हुए था। और इस रोमानियत में प्रकृति परिचायात्मक रूप में आती है। दूसरे सप्तक की कविताओं में कवि का व्यक्तित्व आदर्शवाद लिए हुए था। कवि की भावुक वैयक्तिकता उस पर हावी है। दूसरे सप्तक के बाद आने वाले काव्य संग्रह 'सीढ़ियों पर धूप में' -1960 के दौरान कवि का व्यक्तित्व वैज्ञानिक समाजवाद के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को मन्द-मन्द क्रम में आगे बढ़ाता है। और विभिन्न प्रकार के विषयों को काव्यात्मक अभिव्यक्ति, प्रदान करता है। इस संग्रह के दौरान कवि की प्रखर राजनीतिक दृष्टि का अभाव मिलता है। इसके

---

97 विष्णु नागर, भूमिका : रघुवीर सहाय, संपादक-विष्णु नागर / असद जैदी, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण-1993

पश्चात् आने वाले 'आत्महत्या के विरूद्ध' काव्य संग्रह के दौर में कवि का काव्य-व्यक्तित्व 'हत्या' शब्द के प्रति काफी जागरूक हो जाता है। यह वही समय था जब नेहरू युग से कवि का मोह भंग हुआ था। कवि इस मोहभंग के दौर में हत्या को समस्त मानवीय मूल्यों की हत्या घोषित करता है। कवि का व्यक्तित्व इस हत्या के दौर में भी अविचल रहता है। कवि का व्यक्तित्व बच्चे, स्त्री, बूढ़ों के प्रति संवेदनशील है। सन् 1975 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' के दौर में कवि का काव्य-व्यक्तित्व नैतिकता, करूणा, दया के प्रति काफी चिंतनशील दिखता है। वह क्रूरताओं को उनके नग्नतम रूप में अभिव्यक्त करता है। वह क्रूरताओं के प्रति खीज़ व्यक्त करता है। कवि का काव्य व्यक्तित्व आपातकाल के दौरान नागरिक स्वतंत्रता के प्रति एवं भ्रष्ट राजनीति के प्रति प्रतिरोधात्मक स्वर में मुखरित होता है।

अपने आने वाले अगले काव्य संग्रह 'लोग भूल गए हैं' - सन् 1982 में कवि पीड़ा और वेदना को आत्मसात् कर क्रांति का पुजारी या मसीहा नहीं चाहता बल्कि वह स्वयं को समाज के समक्ष परखना चाहता है। वह मानवीय इतिहास को भूल जाने से बचाने के लिए संघर्ष करना चाहता है।

'कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ'- 1989 तक आते-आते कवि का काव्य-व्यक्तित्व बदलते यथार्थ के साथ कविता को गढ़ा है, कविता में अभिव्यक्त होता है। कवि रचनात्मक अभिव्यक्ति की जागृति लेकर पाठकों के सामने उपस्थित होता है। कवि कलाकार की नासमझी और अवसरसादिता को बखूबी समझ रहा है। व्यावसायिक संस्थाओं और राजनीति ने भाषा को ध्वस्त कर दिया है। कवि भाषा को गुलाम नहीं बनने देना चाहता है। कवि जीवन के अंतिम दिनों में अपनी भाषा को और लोकतांत्रिक मूल्यों को बचाए रखने के लिए वरदान माँगता है। और यह वरदान वह व्यक्ति से, समाज से, देश से माँगता है।

अध्याय-2

रघुवीर सहाय की वैचारिक दृष्टि और लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन

उप-अध्याय :

(क) लोकतंत्र की अवधारणा

(ख) मूल्य की अवधारणा एवं लोकतांत्रिक मूल्य

(ग) रघुवीर सहाय की वैचारिक दृष्टि और लोकतांत्रिक मूल्य

(घ) निष्कर्ष

अध्याय-2

रघुवीर सहाय की वैचारिक दृष्टि और लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन

उप-अध्याय (क) : लोकतंत्र की अवधारणा

लोकतंत्र आधुनिक युग की सर्वाधिक लोकप्रिय शासनात्मक प्रणाली है। एक आधुनिक विचार के रूप में इसका जन्म यूनान और रोम की प्राचीनतम गणराज्य-शासन पद्धति में हुआ। भारत में भी प्राचीन काल में यौधेय, राजन्य, औदुम्बर, आर्जुनायन, शिवि, कुणिन्द, मालव, आग्रेय आदि इसी तरह के गणराज्य थे जहाँ पर लोकतंत्र की एक लचीली आधारशिला रखी गई थी। लोकतंत्ररूपी इस शासनात्मक विचार को भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, बांग्लादेश इत्यादि एशियाई देशों में कुछ नई समस्याओं और चुनौतियों का सामना करना पड़ा। और यह नई समस्याएँ और चुनौतियाँ वहाँ की परिस्थितियों के अनुसार निर्मित हुई थीं। गरीबी, अशिक्षा, आर्थिक असुरक्षा, सामाजिक असमानता, एकता रहित भावना, बेरोजगारी इत्यादि की समस्याएँ तथा चुनौति के रूप में राष्ट्रीय एकीकरण की समस्या प्रमुख थी। आधुनिक युग में इस लोकतंत्र ने अपने दो रूप उदारवादी लोकतंत्र तथा समाजवादी लोकतंत्र विकसित किए। उदारवादी लोकतंत्र जिसके लिए व्यक्ति साध्य है और राज्य साधन, उसने अपना विस्तार इंग्लैंड, ब्रिटेन, अमेरिका फ्रांस व भारत इत्यादि देशों में किया। वहीं दूसरी तरफ समाजवादी लोकतंत्र जिसके लिए भूमि और पूँजी पर सम्पूर्ण समाज का अधिकार हो, उसने अपना विस्तार रूस, चीन, क्यूबा इत्यादि देशों में किया।

सामान्य अर्थों में लोकतंत्र जनता का शासन है। जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि ही शासन का संचालन करते हैं। जनता केवल भीड़ का पर्याय नहीं है जो उद्देश्य के खत्म होने पर बिखर जाती है बल्कि जनता स्वयं स्थायित्व रखते हुए परिवर्तन की शक्ति रखती है। लोकतंत्र को यदि शब्द-व्युत्पत्ति के आधार पर देखा जाए तो अंग्रेजी में इसके

लिए डेमोक्रेसी (Democracy) शब्द का प्रयोग किया जाता है। डेमोक्रेसी (Democracy) शब्द दो यूनानी शब्दों-डेमोस (Demos) अर्थात् जनता तथा क्रेटिया (Kratia) अर्थात् शक्ति से मिलकर बना है। डेमोस और क्रेटिया ही लोकतंत्र के स्वरूप को निर्मित करते हैं। अर्थात् लोकतंत्र का निर्माण करते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जन-साधारण की शासन-व्यवस्था का नाम ही लोकतंत्र है।

पश्चिमी जगत के अब्राहम लिंकन, आस्टिन, लेविस, लार्ड ब्राइस, सीले, डायसी, हाल, जे.ए. शुम्पीटर इत्यादि विचारकों ने लोकतंत्र को जन-साधारण की शासन-व्यवस्था ही स्वीकार किया है। यह वर्ग-विशेष के हाथों में सीमित न होकर सभी जन-समुदाय में निहित होती है। लोकतंत्र-जाति, धर्म, लिंग इत्यादि के आधार पर भेदभाव रहित होता है। वह व्यक्ति और व्यक्ति के बीच भेदभाव नहीं करता। लोकतंत्र एक जीवन पद्धति है जो तर्कपूर्ण विचारों पर आधारित है। लोकतंत्र में आर्थिक शोषण के लिए कोई स्थान नहीं है। वह नागरिकों को भौतिक विकास के अवसर प्रदान करता है। इस शासन का एकमात्र उद्देश्य सम्पूर्ण जनता का हित है।

ऐसा माना जाता है कि लोकतंत्र में लोककल्याणकारी शासन व्यवस्था की अवधारणा अरस्तु ने रखी थी। इस अवधारणा ने हमारा ध्यान राज्य के उद्देश्य और सत्ताधारी वर्ग की सामाजिक स्थिति की ओर दिलाया। अरस्तु का विश्वास था कि शासन प्रणालियों में परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों का आधार वहाँ की परिस्थितियाँ होती हैं। परिवर्तनों के चक्र में राजतंत्र (एक व्यक्ति का शासन), कुलीनतंत्र (कुछ व्यक्तियों का शासन) लोकतंत्र (बहुसंख्या का शासन) आदि क्रमानुसार आते रहते हैं।

प्लेटो की तरह अरस्तु ने भी लोकतंत्र को शासन का एक रूप समझा था। अरस्तु का कुलीनतंत्र ही वर्तमान समय का लोकतंत्र कहा जा सकता है। किन्तु प्रजातन्त्र का मार्क्सवादी सिद्धान्त लोकतन्त्र की प्रकृति के बारे में भिन्न दृष्टिकोण रखता है। मार्क्स लोकतंत्र का अपना सिद्धान्त गढ़ता है। मार्क्स के विचार में सच्चा लोकतंत्र नाम की कोई चीज नहीं होती। मार्क्स पूँजीवादी लोकतंत्र का विरोध करता है। मार्क्स और

एंजिल्स ने समाज के आर्थिक ढाँचे को बदलने की बात कही है। जब तक समाज के आर्थिक ढाँचे में बदलाव नहीं आएगा तब तक वास्तविक लोकतंत्र स्थापित नहीं हो सकता। मार्क्स ने 'साम्यवादी घोषणा पत्र' में लोकतंत्र का अर्थ संघ माना है। मार्क्स राज्यविहीन समाज की कल्पना करता है। और यह राज्यविहीन समाज अर्थात् आदर्श लोकतंत्र एक स्वप्नलोकीय कल्पना (utopia) है। किन्तु लेनिन की दृष्टि में लोकतंत्र राज्य का एक स्वरूप है।

लोकतंत्र के बारे में लेनिन के विचार मार्क्स से कुछ भिन्न रूप में है। मार्क्स यदि राज्यविहीन समाज की कल्पना करता है तो लेनिन राज्यविहीन समाज के बाद की स्थिति का वर्णन करता है। लेनिन राज्यविहीनीय लोकतंत्र के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगाता है। लेनिन का मानना है कि लोकतंत्र एक राज्य है। यदि राज्ष्य के विहीन या विलुप्त होने की दशा आती है तो लोकतंत्र भी विलुप्त हो जाएगा। लेनिन का मानना है कि साम्यवाद में जो लोकतंत्र स्थापित होगा, वह भी आगे चलकर निष्क्रीय या समाप्त हो जाएगा। इस प्रकार साम्यवाद में लोकतंत्र है ही नहीं। इस प्रकार लेनिन प्रजातन्त्र को राज्य की समाप्ति के साथ ही समाप्त करना चाहता है। लेनिन लोकतंत्र को अत्याचारों का एक संगठन मानता है। लेनिन की दृष्टि में लोकतंत्र अत्याचार को बहुत ही व्यवस्थित तरीके से लागू करने का एक संगठन मात्र है। लोकतंत्र के बारे में लेनिन के यह विचार उसी समय तक उनके जहन में रहते हैं जब तक वह बुर्जुआ लोकतंत्र (अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा, फ्रांस) के बारे में सोचते हैं। किन्तु जब लेनिन साम्यवादी प्रजातन्त्र की दृष्टि से लोकतंत्र को देखता है तो वह लोकतंत्र का समर्थन करता है। लेनिन लोकतंत्र के विलुप्त होने की संभावना व्यक्त तो करते हैं किन्तु लोकतांत्रिक राज्य (बुर्जुआ लोकतंत्र) को स्थायित्व प्राप्त हो, वह ऐसा भी नहीं सोचते। लेनिन का मानना है कि राज्य की तरह ही लोकतंत्र भी व्यक्तियों के विरूद्ध संगठित है। और ऐसा लोकतंत्र पूँजीवादी वर्ग के हितों की रक्षा करता है। इस प्रकार लेनिन यह कहना चाहता है कि लोकतंत्र धीरे-धीरे विलुप्त हो जाएगा। लेनिन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'स्टेट एण्ड रिवोल्युशन' (State and Revolution) में सर्वहारा वर्ग के विचारों की व्याख्या प्रस्तुत कर

राज्यविहीन समाज की बाद की स्थिति का वर्णन किया है। इसी बिन्दु पर आकर मार्क्स और लेनिन के विचारों में अन्तर्विरोध दिखाई देता है। और इस प्रकार लोकतंत्र का स्वरूप मार्क्सवादी विचारधारा में एक अभिकल्पना ही बनी रहती है।

यह एक दिलचस्प बात है कि 19वीं सदी में लोकतंत्र सम्बंधी विचार यूरोप में व्यापक रूप से फैल गए। यूरोप में लोकतंत्र सम्बंधी विचारों की बुनियाद डालने वाली फ्रांस की राज्यक्रान्ति थी। और इस राज्यक्रान्ति से स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व सम्बंधी लोकतंत्रीय विचार अनेक देशों में फैल गए।

''आपने 1789 की फ्रांसीसी क्रांति के बारे में जरूर पढ़ा होगा। इस जनविद्रोह ने फ्रांस के टिकाऊ और पक्के लोकतंत्र की स्थापना नहीं की थी। पूरी उन्नीसवीं सदी भर फ्रांस में बार-बार लोकतंत्र को उखाड़ फेंका गया और बार-बार इसे बहाल किया गया। लेकिन फ्रांसीसी क्रांति ने पूरे यूरोप में जगह-जगह पर लोकतंत्र के लिए संघर्षों की प्रेरणा दी।''[1]

बीसवीं शताब्दी में लोकतंत्र का विस्तार व्यापक स्तर पर हुआ, किन्तु लोकतंत्र का विस्तार दुनिया के सभी देशों में एक जैसा या एक समान नहीं हुआ है। सन् 1900 ई. 1950 के बीच-कनाड़ा, अर्जेंटीना, ब्राजील, चिली, फिनलैंड, नार्वे, स्वीडन, आस्ट्रेलिया, सर्बिया, भारत, श्रीलंका, पाकिस्तान, थाइलैंड, तस्मानिया, न्यूजीलैंड इत्यादि देशों में लोकतांत्रिक सरकारों का अस्तित्व पाया गया।

सन् 1950 ई. से 1975 ई. के बीच कनाडा, अर्जेंटीना, कोलंबिया, वेनेजुएला, आयरलैंड, नार्वे, स्वीडन, फिनलैंड, तुर्की, जर्मनी, फ्रांस, इटली, बोत्सवाना, जापान, आस्ट्रेलिया, तस्मानिया, न्यूजीलैंड, मलेशिया, थाइलैंड, भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, बेगवान इत्यादि देशों में लोकतंत्र आया। सन् 1975 ई. से 2000 के बीच कनाडा, सियरा लियोन, अर्जेंटीना, कोलम्बिया, नार्वे, स्वीडन, फिनलैंड, रूस, तुर्की, मलेशिया, जापान, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, दक्षिण अफ्रीका, आयरलैंड, फ्रांस, जर्मनी, तस्मानिया, बोत्सवाना,

---

1 लोकतांत्रिक राजनीति, पृ.-18, एन.सी.ई.आर.टी, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, संस्करण-मई, 2006

भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका नामीबिया, नाइजर, सूडान इत्यादि देशों में लोकतंत्र आया।

बहरहाल अंग्रेजाधीन भारत में लोकतंत्र का रूप वास्तविक न होकर कृत्रिम मात्र था। ईसा की 18वीं सदी में भारतीय राजनीति की स्थिति बहुत ही भयावह थी। सन् 1833 ई. में ईस्ट इंडिया कम्पनी का व्यापार हेतु भारत में प्रवेश एक विनाशकारी घटना थी। वह एक व्यापारी संस्था थी और इस संस्था के अंग्रेज अधिकारियों को राजकाज (शासन) चलाने का भी अनुभव था। अंग्रेजों की नीति दमनकारी थी। और इसीलिए उनके लोकतंत्र का स्वरूप भी दमन पर ही आधारित था। राजनीतिक शांति के जन्मदाता ने आर्थिक अशांति उत्पन्न कर दी थी। 1857 ई. के असफल विद्रोह ने सच्चे लोकतंत्र की स्थापना हेतु प्रारम्भिक प्रयास जरूर किए थे। तत्पश्चात् सन् 1885 ई. में 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना ने राजनीतिक विचारधारा को आन्दोलित किया। प्रथम विश्वयुद्ध (1914) ई. में भारत ने अंग्रेजी सरकार की सहायता की थी किन्तु उसके बदले में 13 अप्रैल 1919 को जालिनयावाला बाग में भीषण नरसंहार हुआ। तत्पश्चात् द्वितीय विश्वयुद्ध (1939) ई. के दौरान सम्पूर्ण भारतवासियों के मन में संघर्षमयी चेतना की लहर जागृत हो उठी। इस दौरान गाँधी के नेतृत्व में 8 अगस्त 1942 ई. को भारत छोड़ो आन्दोलन अस्तित्व में आया। तत्पश्चात् अनेक महापुरुषों, देश भक्तों और राष्ट्रप्रेमियों के बलिदान स्वरूप 15 अगस्त 1947 ई. को भारत अंग्रेजी दासताँ की बेड़ियों से मुक्त हो गया। गाँधी ने इस अवसर पर सच्चे लोकतंत्र की अभिकल्पना रामराज्य में की, किन्तु अंग्रेजी दासताँ की बेड़ियों से मुक्त होने के पश्चात् भारत स्वयं दो हिस्सों भारत एवं पाकिस्तान में विभाजित हो गया। और गाँधी की सच्चे लोकतंत्र की स्थापना धाराशाही हो गई। यह एक सुविख्यात तथ्य है कि भारत को मिली आज़ादी वास्तविक आज़ादी नहीं थी। पराधीनता के बाद स्वाधीनता की सुखद अनुभूति ने आम जनता के हृदय में यह भावना जागृत कर दी कि एक बेहतर लोकतंत्र की स्थापना होगी। अंग्रेजों ने जो हमसे छीन लिया था वह सब कुछ हमें वापस मिल जाएगा। आर्थिक असमानता, अशिक्षा, बेरोजगारी, सामाजिक असमानता, राजनीतिक अधिकार इत्यादि के क्षेत्रों में सरकार द्वारा कुछ महत्त्वपूर्ण कदम उठाए जाएँगे, किन्तु स्वतंत्रता

प्राप्ति के बाद स्वतंत्र भारत में ऐसा कुछ नहीं हुआ। तत्पश्चात् जनता का मोहभंग हो गया। जनता के सुनहरे स्वप्न टूट कर बिखर गए। सत्ता का रूप अभी भी वही है, केवल चेहरे बदल गए हैं। क्या इसी का नाम लोकतंत्र है? यथास्थितिवादी सत्ता कभी भी लोकतंत्र को बहाल नहीं कर सकती। किसी व्यक्ति के हाथ में कोई काम नहीं, तन पर कपड़े नहीं, पेट की आग शांत नहीं, और रहने के लिए छत नहीं। क्या इसी लोकतंत्र का सपना भारतवासियों ने संजोया था? मात्र चेहरा बदल जाना ही लोकतंत्र नहीं है बल्कि सामाजिक समस्याओं का सुलझना ही लोकतंत्र है।

''कुर्सियों पर कुर्सियाँ टूटती हैं; गाली-गलोज से पूरा सदन गूँज उठता है। क्या यही है एक लोकतांत्रिक देश की शक्ल?''[2]

जी हैं यही है भातरीय लोकतंत्र का असली चेहरा। जहाँ बेगुनाहों को पनाह नहीं, गुनहागारों को सज़ा नहीं। भरतीय लोकतंत्र का हर एक अध्याय हैं-नन्दी ग्राम की घटना। अपहरण, मारकाट, बलात्कार, शोषण, मारकाट है। ''भारतीय लोकतंत्र का काला अध्याय है-नन्दीग्राम की घटना। अपहरण, मारकाट, बलात्कार, शोषण 'लोक' की रोजमर्रा जिन्दगी के हिस्से बन गए हैं। हम किस लोकतंत्र की बात कर रहे हैं? जब 'लोक' ही नहीं बचेगा तो 'तंत्र' किसके बूते चलेगा?''[3]

लोक की सुरक्षा के लिए अनेक तरह के कानून बनाए जाते हैं। लेकिन यह कानून सैद्धांतिक स्तर पर ही सफल होते हैं, व्यावहारिक स्तर पर यह अस्तित्वविहीन हो जाते हैं। दूसरी ओर जनता पर जुल्म करने के लिए नए-नए तरीके अपनाए जाते हैं। आखिर भारतीय लोकतंत्र किस दिशा की ओर जा रहा है? निश्चय ही यह पतन की ओर अग्रसर हो रहा है। लोकतंत्र अपने अंतिम क्षण की ओर बढ़ रहा है। लोकतंत्र में तंत्र तो है किन्तु लोक नहीं। आजादी के बाद सत्ता जिन लोगों के हाथों में आई, उन्होंने पूँजीवादी लोकतंत्र को जीवित रखने में अपनी शान समझी। दिखावे मात्र के रूप में

---

2 रश्मि किञ्जकिनी, लोकतंत्र का असली चेहरा : पृ. 22, सामयिक वार्ता, सम्पादक : योगेन्द्र यादव, सह विकास सोसाइटी, दिल्ली, जनवरी 2008

3 वही

उन्होंने समाजवादी लोकतंत्र का समर्थन किया, किन्तु आन्तरिक रूप से वह पूँजीवादी लोकतंत्र के 'तंत्र' में ही रमे रहे।

पूँजीवादी लोकतंत्र अधिक से अधिक निजी सम्पत्ति को संग्रहित करने की सार्थकता पर बल देता है जिसके परिणामस्वरूप वर्ग विभाजन को स्थायित्व मिलता है। पूँजीवादी लोकतंत्र में कानून, पुलिस, सेना इत्यादि पूँजीपतियों के स्वार्थों के हितों की रक्षा करते हैं। अत: पूँजीवादी लोकतंत्र में सच्चा लोकतंत्र स्थापित नहीं किया जा सकता है। यह समाजवादी व्यवस्था में ही संभव है, किन्तु वर्तमान समय में हमारा समाज भयंकर असमाजिकताओं की गिरफ्त में है। और यह असमाजिकताएँ लोकतंत्र को उसके अंतिम क्षण में पहुँचा रही है।

जिस लोकतंत्र ने एक लचीली आधारशिला बनकर उदारवादी लोकतंत्र के रूप में अपना विस्तार बुर्जुआ देशों (इंग्लैंड, ब्रिटेन, अमेरिका) में किया, उसी लोकतंत्र ने अपना विस्तार समाजवादी लोकतंत्र के रूप में साम्यवादी देशों (रूस, चीन, क्यूबा) में किया। यह वही लोकतंत्र है जिसने अपना विस्तार रघुवीर सहाय की कविताओं में आकर संकुचित कर लिया है। अर्थात् रघुवीर सहाय की कविताओं में लोकतंत्र का रूप वास्तविक नहीं है। उन्होंने उसे कृत्रिम रूप में पाया। रघुवीर सहाय का लोकतंत्र वह लोकतंत्र नहीं है जिसकी परिकल्पना अमेरिका के सुप्रसिद्ध राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन ने की थी और कहा था कि ''लोकतंत्र जनका का, जनता द्वारा और जनता के लिए शासन है।''[4] और जिसका समर्थन सीले (Seeley), लार्ड ब्राइस (Lard Bryce), प्रो. डायसी (Prof. Diecy), हैरोडोट्स (Herodotus), गैटल इत्यादि विचारकों ने किया था। रघुवीर सहाय का काव्य एक ऐसे नागरिक प्रजातंत्र का दिग्दर्शन कराता है जिसमें लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुँचा हुआ है।

---

4 "Government of the people, by the people, for the people" - Arbraham Lincon (1861-1865), अमेरिका के 16वें राष्ट्रपति पद पर आसीन होने के बाद दिए गए भाषण से उद्धृत पंक्ति।

उप-अध्याय (ख) : 'मूल्य की अवधारणा एवं लोकतांत्रिक मूल्य

लोकतंत्र का एक महत्त्वपूर्ण अंग 'मूल्य' है। इच्छाओं की संतुष्टि ही मूल्य है। मूल्य की अवधारणा व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास से जुड़ी है। 'मूल्य' शब्द को अंग्रेजी में वेल्यू (Value) कहा जाता है। 'मूल्य' शब्द का विधिवत रूप से प्रयोग सर्वप्रथम अर्थशास्त्र के लिए किया गया। अर्थशास्त्र का यह शब्द जब मानवीय संवेदना से जुड़ा तो उसने अपनी सीमाओं का विस्तार किया। अब मात्र वह अर्थशास्त्र तक सीमित नहीं रह गया। 'मूल्य' ने अपने कई प्रकार विकसित किए हैं-आर्थिक मूल्य, सौन्दर्य मूल्य, लोकतांत्रिक मूल्य, राजनैतिक मूल्य, सामाजिक मूल्य, धार्मिक मूल्य इत्यादि। मूल्य को हम एक तरह से जेनेरिक (Generic) शब्द कह सकते हैं जो किसी भी वस्तु, व्यक्ति, भाव, ज्ञान इत्यादि से जुड़कर सृजनात्मक संभावनाओं को विकासशील बनाता है। यदि मूल्य सृजनात्मक संभावनाओं से नहीं जुड़ता तो वह (मूल्य) रूढ़ि में परिवर्तित हो सकता है।

नए मूल्य तभी स्थापित होते हैं जब पुरानी रूढ़ियाँ टूटती हैं। किसी वस्तु को उसके अस्तित्व के कारण ही मूल्यवान नहीं माना जा सकता है क्योंकि मूल्य वस्तु में न होकर उसके निर्धारण कर्ता के मन में होता है। निर्णरण कर्ता (मनुष्य) अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप मूल्यों को बनाता ओर बिगाड़ता है। ऐसा करके उसे एक सुख का अनुभव होता है और यही सुख ही अपने आप में एक मूल्य बन जाता है। इस प्रकार मूल्य की अवधारणा मनष्य के सम्पूर्ण विकास एवं व्यक्ति के बीच महत्त्वपूर्ण सम्बन्धों से जड़ी हुई है।

मूल्य तो प्रत्येक युग में रहे हैं। धीरे-धीरे इनका विकास होता गया। आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और अब आधुनिक काल इत्यादि सभी कालों में मूल्य एक से नहीं रहे हैं। परिस्थितियों के अनुसार, आवश्यकताओं के अनुसार मनुष्य ने उनमें परिवर्तन किया है। और यह परिवर्तन विकास के परिप्रेक्ष्य में हआ है। प्राचीन भारत में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इत्यादि जीवन मूल्य थे। किन्तु धर्म, अर्थ, काम मोक्ष को मूल्यों का श्रेणी में न रखकर उद्देश्य की श्रेणी में रखा गया था। समयान्तर के साथ-साथ मूल्यों में परिवर्तन

होता गया, उनका विकास होता गया। मूल्यों में परिवर्तन विकास को ध्यान में रखकर किया जाता है। परिवर्तनशीलता में नई मान्यताएँ स्थापित होती है। मानव-समाज की आवश्यकता को ध्यान में रखकर मूल्यों का सृजन एवं विकास किया जाता है। मूल्य तभी बदलते हैं जब व्यक्ति के स्वभाव में परिवर्तन आता है। आवश्यकताओं के अनुरूप ही 'मूल्य' बनते या बिगड़ते हैं। मूल्यों की अपनी एक प्रकृति होती है, उसके कुछ अपने मानदण्ड होते हैं। जब मूल्यों को किसी भी विषय से जोड़कर देखा जाता है तो वह विषय-विषयी के अन्तर्विरोधों एवं वास्तविकताओं को उजागर कर देते हैं। मूल्यों की जननी आवश्यकता है। आवश्यकता के अनुरूप अन्तर्दृष्टि की विकसित अवस्था ही मूल्य है। मूल्यों का अवलोकन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही किया जा सकता है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र इनके कुछ अपने मूल्य होते हैं और यह मूल्य सम्बंधों के परिप्रेक्ष्य में ही बनते हैं। 'मूल्य' मनुष्य को जन्म से प्राप्त नहीं होता है अपितु सामाजिक स्थितियाँ इन मूल्यों के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। सम्बंधों के बदलने से मूल्य भी बदल जाया करते हैं। मूल्य परिवर्तनशील हुआ करते हैं। मूल्यविहीन व्यक्ति, मूल्यविहीन समाज, मूल्यविहीन राष्ट्र इत्यादि की कल्पना नहीं की जा सकती है।

मूल्य जीवन के लिए होते हैं। और इसलिए इनका प्रयोग जीवन के लिए किया जाता है। जीवन मूल्यों को किसी भी मूल्य जैसे राजनैतिक मूल्य, सामाजिक मूल्य, धार्मिक मूल्य, आर्थिक मूल्य, सांस्कृतिक मूल्य इत्यादि से अलगाया नहीं जा सकता है।

वर्तमान समय में मूल्यों के विश्लेषण, स्वरूप, प्रकार, सिद्धांत इत्यादि से सम्बंधित एक विज्ञान, मूल्य मीमांसा (Axialogy) ही विकसित हो गया है। साधारण अर्थों में यदि देखा जाए तो मूल्य के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष ठहरते हैं-(i) सकारात्मक मूल्य (ii) नकारात्मक मूल्य। सकारात्मक मूल्यों में प्रगतिशीलता एवं आदर्शवादिता होती है। वहीं दूसरी तरफ नकारात्मक मूल्यों में अत्यधिक अन्तर्विरोध, आदर्शहीनता, आस्थाहीन जीवन-दृष्टि की विकृति एवं हताशा से भरपूर निराशा होती है। नकारात्मक मूल्यों की संरचना में या उसके निर्माण में पूँजीवाद, सामन्तवाद, भ्रष्ट वर्तमान प्रजातंत्र, हननकारी वैज्ञानिकता, उत्तरआधुनिकतावादी संस्कृति इत्यादि ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

साहित्य नकारात्मक एवं सकारात्मक दोनों प्रकार के मूल्यों को दर्शाता है क्योंकि समाज में यह दोनों प्रकार के मूल्य पाए जाते हैं। साहित्य इन मूल्यों को यथार्थ से अलगाकर नहीं बल्कि यथार्थ की कठोर ज़मीन पर उदात्त रचनात्मकता के रूप में प्रस्तुत करता है। मूल्यों का एक महत्त्वपूर्ण सम्बंध आदर्श से होता है। आदर्श में यह अनुमान लगाया जाता है कि जीवन कैसा होना चाहिए। यदि हम मूल्य का सम्बंध यथार्थ से लगाते हैं तो उसमें हम तथ्य खोजते हैं। यदि आदर्श से लगाते हैं तो उसमें हम सम्भावनाएँ खोजते हैं। मूल्य एक अमूर्त ईकाई है। इस अमूर्त ईकाई में एक अनुभव होता है। और इस अनुभव के स्तर पर व्यक्ति मूल्यों को भोगता है, उसको आत्मसात् करता है। मूल्यों का उद्‌भव आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता है। जनता अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लोकतंत्र पर निर्भर रहती है। जनता अपनी प्राथमिक सेवाओं एवं वस्तुओं की माँग प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से लोकतंत्र से करती है। जल प्रबन्ध, परिवहन प्रबन्ध, स्वास्थ्य एवं शिक्षा प्रबन्ध, व्यापार प्रबन्ध, कानून, स्वतंत्रता, समानता, न्याय इत्यादि लोकतांत्रिक मूल्य हैं। इन्हीं लोकतांत्रिक मूल्यों की माँग जनता लोकतंत्र से करती है। और रघुवीर सहाय की वैचारिक दृष्टि इन्हीं लोकतांत्रिक मूल्यों को स्वतंत्र भारत में पतन की ओर अग्रसर होते हुए पाती है।

उप-अध्याय (ग) : 'रघुवीर सहाय की वैचारिक दृष्टि और लोकतांत्रिक मूल्य

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि रघुवीर सहाय की वैचारिक दृष्टि क्या है? अर्थात् लोकतंत्र के बारे में उनका अपना नजरिया क्या है? उनके सामान्य विचारों में लोकतंत्र की छवि किस प्रकार की है? रघुवीर सहाय की दृष्टि में लोकतंत्र कोई शाब्दिक प्रक्रिया नहीं है। यह एक विचारात्मक शासन प्रणाली है। उनकी दृष्टि में लोकतंत्र महज सिद्धान्त ही नहीं बल्कि एक व्यवहार भी है। रघुवीर सहाय ने वैचारिक स्तर पर लोकतांत्रिक मूल्यों को बहुत ही गहराई से लिया। कवि ने यह पाया कि सिद्धान्त एवं व्यवहार दोनों ही स्तरों पर लोकतंत्र एक 'लोकतांत्रिक कर्मकाण्ड बनकर रह गया है। लोकतंत्र की छवि उनके सामान्य विचारों में लोकोन्मुख न होकर

अलोकतांत्रिक बन गई है। वर्तमान लोकतंत्र विकास का लोकतंत्रीय मॉडल नहीं बल्कि सत्ता के जरिए सम्पत्ति संग्रहण एवं बर्बादी का मंजर प्रस्तुत कर रहा है।

वैचारिक स्तर पर लोकतांत्रिक मूल्यों की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए उनकी दृष्टि 'आपातकाल' तक गई। आपातकाल के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने पाया कि व्यक्ति के सारे अधिकार उससे छीन लिए गए हैं। नागरिक स्वतंत्रताओं का हनन किया गया एवं लोकतांत्रिक मूल्यों को ध्वस्त कर दिया गया। कवि ने इन ध्वंसकारी परिस्थितियों में लोकतंत्र के अस्तित्व को तानाशाही में तब्दील होते पाया। कवि को इन ध्वंसकारी परिस्थितियों में एक धक्का सा लगा। और कवि ने यह अनुभव किया कि यह लोकतंत्र का अंतिम क्षण है। "1975 में जब इमर्जेंसी लगाई गई और जनता से नागरिक स्वतंत्रताएँ तथा जनतांत्रिक अधिकार छीन लिए गए तब हमें एक धक्का सा लगा...इसे भारत की जनता ने स्वाधीनता आन्दोलन के रूप में एक लम्बी लड़ाई लड़कर हासिल किया था, और इसे सुरक्षित रखना कितना जरूरी है।"[5]

कवि को लगा कि आपातकाल के बाद की स्थिति तो और भी भयावह हो गई है। यह स्थिति तानाशाही की स्थिति सी हो गई है। और इस तानाशाही स्थिति ने संभावनाओं को नष्ट कर दिया है। हमारे संवैधानिक जनतंत्र में बहुत सी संभावनाएँ थीं। गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी, आर्थिक असमानता इत्यादि दोषों का निराकरण कर एक सुस्पष्ट समाज का निर्माण करना हमारी संभावनाओं में शामिल था, किन्तु आपातालीन स्थिति में जनता की सारी संभावनाएँ नष्ट हो गई। आपातकाल के पूर्वार्द्ध में नेहरू के सम्मोहनकारी व्यक्तित्व से जनता बँधी हुई थी, किन्तु चीन युद्ध और तत्कालीन परिस्थितियों ने नेहरूयुग के सम्मोहनकारी व्यक्तित्व से जनता का मोहभंग करा दिया। यह मोहभंग की स्थिति आपातकाल में अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुँच गई थी। जनता में असंतोष बढ़ रहा था। और राज्य जनता के प्रति कठोर एवं भ्रष्टाचार में लिप्त होता जा रहा था। आपातकाल इस बात का प्रमाण था कि तानाशाही शासन प्रारम्भ हो चुका है। यह तानाशाही लोकतंत्र की ओट लेकर आया था।

---

5 तनिका सरकार, जनतंत्र जनता की जिम्मेदारी है, पृ. 30, जन और जनतंत्र, सम्पादक-रमेश उपाध्याय, शब्द संधान प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2006

''ज्यों-ज्यों असंतोष बढ़ेगा, राज्य जनता के प्रति कठोर होता जाएगा, शासक वर्ग के लिए जनतांत्रिक ढंग से शासन करना मुश्किल हो जाएगा और वह जनतंत्र को समाप्त करके तानाशाही ले आएगा।''[6]

इस स्थिति में कवि भविष्य की नहीं बल्कि वर्तमान की फिक्र करना चाहता है, क्योंकि भविष्य की रोशनी को वर्तमान के अँधेरे ने ढक लिया है। कवि वर्तमान समय में भावावेग की गिरफ्त में आकर बची हुई स्वतंत्रता से संतोष करना चाहता है, किन्तु चिन्तन के धरातल पर पुनः आकर वह इस बची हुई स्वतंत्रता को अस्वीकार करता है। कवि को अनुभव होता है कि यह स्वतंत्रता मात्र एक दिखावा है, एक छल है। कवि को यह लगता है कि वर्तमान लोकतंत्र ने इन्सान की शानदार गरिमामय जिन्दगी को कुत्ते की मौत में तबदील कर दिया है। व्यक्ति कुत्ते की मौत मरने के लिए अभिशप्त है। रघुवीर सहाय इस बात की स्वीकृति बहुत ही संवेदनात्मक एवं आक्रोश भरे स्वर में निम्न पंक्तियों से देते हैं-''लोकतंत्र-मोटे, बहुत मोटे तौर पर लोकतंत्र ने हमें इन्सान की शानदार ज़िन्दगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है। इस स्थिति में सबसे आसान यह पड़ता है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की अभी तक बची सुविधा का फायदा उठाकर मैं अपने लिए बचे रहने की निजी, बिल्कुल अहस्तान्तरणीय रियायत ले लूँ। उससे कुछ मुश्किल यह है कि मैं यह रियायत अस्वीकार करूँ और उनके आसरे जिन्दा रहूँ जो इन्सान के लिए दूसरे हथियारों से लड़ते हैं-साहित्येतर हथियारों से! सबसे मुश्किल और एक ही सही रास्ता है कि मैं सब सेनाओं में लड़ूँ- किसी में ढाल सहित, किसी में निष्कवच होकर मगर अपने को अन्त में मरने सिर्फ़ अपने मोर्चे पर दूँ- अपनी भाषा के शिल्प के और उस दोतरफा जिम्मेदारी के मोर्चे पर जिसे साहित्य कहते हैं।''[7]

कवि उन लोगों (गरीब, किसान, मज़दूर, मध्यवर्ग इत्यादि) के सहारे जिन्दा रहना चाहता है जो इन्सान की शानदार जिन्दगी और राष्ट्र को बचाने के लिए साहित्येतर

---

6 तनिका सरकार, जनतंत्र जनता की जिम्मेदारी है, पृ. 28 : जन और जनतंत्र, सम्पादक-रमेश उपाध्याय, शब्दसंधान प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2006

7 रघुवीर सहाय, वक्तव्य : आत्महत्या के विरूद्ध, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1967

हथियारों से लड़ते हैं। कवि को लगता है कि यहाँ प्राप्त भारतीय स्वतंत्रता की अवलेहना सी हुई है। और इस अवहेलना ने व्यक्ति को साहित्येतर हथियारों से लड़ने के लिए मजबूर कर दिया है। लोकतांत्रिक आकांक्षाओं और आवश्यकताओं की नकारात्मक पीड़ा का प्रतिबिम्ब व्यक्ति के मानस में गूंजने लगा है। लोकचेतना, निष्ठा और नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं बचा। स्वार्थ के वैभव ने, भारतीय राजनीति ने लोक के वैचारिक आधार को दीर्घकालिक चिन्ता में तब्दील कर दिया है। समाज के प्रत्येक स्तर पर कुव्यवस्था सी फैल गई। इस कुव्यवस्था के खिलाफ सभी लोगों (गरीब, किसान, मज़दूर इत्यादि) का अपना अलग-अलग मुद्दा है, अलग-अलग मोर्चा है, किन्तु कवि का मोर्चा उसका कवि-कर्म अर्थात् साहित्य है। रघुवीर सहाय उन सभी सेनाओं से लड़ना चाहते हैं जिन्होंने ऐसी स्थितियाँ पैदा कर दी है कि व्यक्ति घुट-घुट कर मरने पर विवश हो गया है। कवि उन सभी सेनाओं से (न्यायपालिका, कार्यपालिका, सेना, पुलिस पूँजीपतिवर्ग) ढाल सहित एवं ढालरहित दोनों ही स्थितियों में लड़ना चाहता है, जिन्होंने साहित्यकार को उसकी खास दुनिया (सामाजिक दुनिया) से बेगाना कर दिया है। और समाज में लोकतांत्रिक मूल्यों की मूल्यहीनता को ला दिया है। किन्तु सभी सेनाओं से एक साथ प्रत्यक्ष रूप से लड़ना संभव नहीं है। अतः कवि का अपना जो मोर्चा है-भाषा और शिल्प का, वह उसी पर मरना चाहता है। भाषा और शिल्प का मोर्चा साहित्य का मोर्चा है। और साहित्य की दोतरफा जिम्मेदारी है-(i) समाज को उसका वास्तविक रूप दिखाना (ii) प्रतिरोध के स्वर मुखरित कर लोककल्याण की भावना को विकसित करना। कवि साहित्य के माध्यम से प्रतिरोध के स्वर को मुखरित करना चाहता है। समाज को उसका वास्तविक रूप दिखाना चाहता है। समाज में राजनीति की सार्थकता को सिद्ध करना चाहता है। साहित्य और राजनीति का लक्ष्य एक ही होता है-लोक कल्याण, किन्तु वर्तमान समय में राजनीति का लक्ष्य लोक विरूद्ध है। इसीलिए सत्ता वर्ग साहित्य के सामने एक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में खड़ा हुआ है। और इस द्वन्द्व में आशा और निराशा का भाव है।

और इसी आशा एवं निराशा के बीच संशयग्रस्त धूमिल जैसे जनवादी कवि की

दृष्टि में आज़ादी मात्र एक दिखावा है, एक छल है। आशा और निराशा के बीच इसी संशयग्रस्तता के कारण इन्हें अनेक विद्वानों ने अराजकतावादी कवि भी माना है-

''मैं इंतजार करता रहा...
इंतजार करता रहा...
जनतंत्र, त्याग, स्वतंत्रता...
संस्कृति, शांति, मनुष्यता
ये सारे शब्द थे
सुनहरे वादे थे।''[8]

बहरहाल रघुवीर सहाय आज़ादी को ठीक तरह से समझते हैं। उनमें कोई संशय नहीं है, कोई दुविधा नहीं है। संविधान की फ्रेम से वह लोकतंत्र को देखते हैं। और यह फ्रेम आदर्शवाद से निर्मित नहीं हुआ है बल्कि स्वतंत्र्योत्तर भारत के यथार्थवाद की कठोर जमीन से उपजा हे। रघुवीर सहाय की दृष्टि मे वर्तमान लोकतंत्र शोषण परप आधारित हे। और इस लोकतंत्र ने इन्सान की शनदार जिन्दगी को कुत्ते की मौत से भी खौफनाक बना दिया है। और इस लोकतंत्र में हिंसा का वर्चस्व कायम हो गया है। यह एक हिंसात्मक लोकतंत्र है। और इस हिंसात्मक लोकतंत्र के शिकार बच्चे, लड़कियाँ, स्त्रियाँ, शिक्षित और अशिक्षित व्यक्ति, मरता हुआ मतदाता, पॉलिश करने वाला लड़का, गरीब हरचरना इत्यादि हैं।

''रघुवीर सहाय का लोकतंत्र कोई प्रसन्न संसार नहीं है। उनकी कविता में एक हिंस्र आहट सुनाई पड़ती है। यह हिंस्र आहट गोली या बारूद की अनुगूँज से भिन्न है। यह एक स्वाधीन मस्तिष्क और मनुष्य को पराधीन बनाने की निःशब्द हिंसा है।''[9]

आजादी के बाद आए लोकतंत्र ने लोक के तंत्र को ही भ्रष्ट कर दिया। आज़ादी का नेतृतव जिन लोगों के हाथों में था उनमे से अधिकतर लोग पूँजीवादी वर्ग से

---

8 धूमिल, पटकथा, धूमिल की कविताएँ, पृ.-41, संपादक : डॉ. शुकदेव सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण-1983

9 विनोददास, 'लोकतंत्र की आवाज़' : 'रघुवीर सहाय', पृ. 160, सम्पादक : विष्णु नागर/असद जैदी, आधार प्रकाशन, हरियाणा, संस्करण-1993

सम्बंधित थे। तथ आज़ादी के बाद सत्ता इन्हीं में से कुछ लोगों के हाथों में आई। अतः इन्होंने जन-साधारण का अहित कर पूँजीवादी, जमींदारी वर्ग का हित साधा। परिणामस्वरूप लोकतंत्र में पूँजीपति वर्ग के हितों को बढ़ावा मिला। और इसके लिए उन्होंने पश्चिम के विकसित देशों (ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा इत्यादि) के लोकतांत्रिक बनावट की प्रति की। अतः यह कहा जा सकता है कि 'भारतीय न होकर पश्चिमी लोकतंत्र की एक प्रति मात्र है। भारत में वह परिस्थितियाँ ही नहीं बनने दी गई जिससे लोकतंत्र का सपना साकार हो सके। वर्तमान लोकतंत्र ने जनता से उसकी पहचान छीन ली है। रघुवीर सहाय की दृष्टि में सत्ता लगातार अमानवीय होती जा रही है। पिछड़ापन, गरीबी, अशिक्षा, भ्रष्टाचार, इत्यादि परतंत्रता के साथ समाप्त नहीं हुआ बल्कि स्वतंत्रता के साथ बढ़ता गया है। स्वाधीन भारतीय राजनीति ने लोकतंत्र को विपथगामी और शोषणकारी बना दिया है। कवि ने ऐसी राजनीति की कल्पना स्वतंत्र्योत्तर भारत में नहीं की थी। स्वातंत्र्योत्तर भारत में दलगत राजनीति या संगठित राजनीति ने अपना दबदबा बना लिया है। कवि संगठित राजनीति का विरोध करता है क्योंकि अश्लील संगठित राजनीति स्वार्थ की राजनीति है जो अधिक से अधिक लोगों का दमन एवं अहित करती है। कवि के ही शब्दों में-

"अपराध संगठित, राजनीति संगठित, दमन का तंत्र संगठित।
केवल अपराध के विरूद्ध जो बोला था अकेला है।"[10]

एक रचनात्मक कर्म के रूप में रघुवीर सहाय ने राजनीति को अनिवार्य माना है किन्तु यह अनिवार्यता वहीं तक है जहां तक की राजनीति की सार्थकता हो। समाज को बनाने या उजाड़ने वाली राजनीति और कवि की राजनीति में कोई अन्तरे नहीं होता। अन्तर केवल उस स्तर पर ही आता है जब राजनीति संगठित होकर समाज को बनाती है या बिगाड़ती है। और इस स्थिति में संगठित राजनीति निर्माण का नहीं बल्कि ध्वंस का ही कार्य करती है। कवि की दृष्टि में राजनैतिक अधिकार व्यक्ति को जन्म से ही मिल

---

10 रघुवीर सहाय, खोज खबर : कुछ पते कुछ चिट्ठियां, पृ. 82, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1989

जाता है। और इन अधिकारों का उपयोग व्यक्ति रचनात्मक कार्यों के द्वारा कर सकता है। लेकिन संगठित राजनीति का अधिकार व्यक्ति को जन्म से नहीं मिलता बल्कि वह स्वयं हत्यारे और शोषक से मिलकर बनाता है। कवि की स्वीकारोक्ति निम्न है-''समाज में व्यापक रूप से स्वीकृत या समाज को बनाने या उजाड़ने वाली राजनीति में और कवि की राजनीति में अन्तर नहीं है। अन्तर है संगठित राजनीति में और राजनीति में।... इसलिए मैं राजनीति के अर्थ के बारे में बहुत साफ रहना चाहता हूं। अगर आपका बार-बार यपह अर्थ है कि दलों की राजनीति या सत्ता की राजनीति, तो मेरा वह अर्थ नहीं है क्योंकि सत्ता की राजनीति और रचना का तो बिल्कुल छत्तीस का सम्बंध है।''[11]

रघुवीर सहाय राजनीतिक कविता लिखते अवश्य हैं किन्तु वह संगठित राजनीति से इन्कार करते हैं। वह राजनीति को आलोचना कर्म के रूप में स्वीकृति देते हैं। वह असंगठित, असमर्थ, असफल व्यक्ति के समर्थन में बनी राजनीति के पक्ष में है। कवि उस राजनीति के पक्ष में है जो दल रहित है। तथा जिस राजनीति के मूल में अधिक से अधिक लोगों की भलाई करने की प्रतिबद्धता हो। ऐसी राजनीति जो व्यक्ति को भविष्य के झूठे आश्वासन एवं निरर्थक कल्पना नहीं देती बल्कि वर्तमान के सत्य को भविष्योन्मुखी बनाती है। कवि के लिए अच्छी राजनीति वही है जो भीड़ जमा नहीं करती बल्कि समस्याओं को एकत्र कर उनका समाधान करती है। ऐसी राजनीति व्यक्ति को सुलाती नहीं बल्कि जगाती है। रघुवीर सहाय के ही शब्दों में-''अच्छी राजनीति से मेरा कोई विरोध नहीं है। वह राजनीति जो सत्य के कहने को भीड़ जमा करने में दस साल की देर लगाती हो, अच्छी है। और उससे भी अच्छी है वह राजनीति जो दस साल बाद आने वाले सत्य को आज कहती हो।''[12]

रघुवीर सहाय लोकतंत्र की आंतरिक समीक्षा करते हैं और यह पाते हैं कि लोकतंत्र में सरकार का चरित्र लोकतांत्रिक मूल्यों को पतनशील बनाने में महत्त्वपूर्ण

---

11 रघुवीर सहाय, कविता क्या बचाती है : समकालीन हिन्दी आलोचना, पृ. 194, सम्पादक परमानन्द श्रीवास्तव, साहित्य अकादमी पब्लिकेशन, नई दिल्ली, संस्करण-1998

12 रघुवीर सहाय, यथार्थ यथास्थिति नहीं, पृ. 62, सम्पादक : सुरेश शर्मा, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-1994

भूमिका निभाता है। लोकतंत्र में नेता बदलते रहते हैं जिसके कारण अस्थिरता उत्पन्न होती रहती है। लोकतंत्र का मतलब केवल अब राजनैतिक लड़ाई ही रह गया है। यह एक सत्ता का खेल बनता चला जा रहा है। लोकतंत्र में नैतिकता के लिए अब कोई जगह नहीं बची है। चुने हुए नेता लोगों के हितों की ओर ध्यान न देकर उनका अधिक से अधिक अहित करने की प्रक्रिया पवर जोर देते हैं। वर्तमान लोकतंत्र में कानून का शासन नहीं, अधिकारों का सम्मान नहीं बल्कि रोज-रोज मरते हुए लोगों का एक झुण्ड है-

"रोज-रोज थोड़ा-थोड़ा मरते हुए लोगों का एक झुण्ड
तिल-तिल खिसकता है शहर की तरफ।"[13]

रघुवीर सहाय सरकार के उस चरित्र को भी उजागर करते हैं जो लोकतंत्र के नाम पर जनता से यह छिपाकर करती आ रही है। सरकार द्वारा नागरिकों को दी गई शांति और सुरक्षा की अभिकल्पना केवल एक ढोंग होता है। लोकतंत्र का नियामक व्यक्ति (मतदाता) आज केवल वादों को ढोने के लिए अभिशप्त हैं, लेकिन कवि इन वादों पर अपनी शंका जाहिर करता है-"जब कोई सरकार नागरिकों को शांति और समृद्धि का आश्वासन देने के लिए राजाज्ञा का आश्रय लेती है, चौकन्ना होने का समय आ जाता है कि इसका प्रतिलोम तो नहीं होने वाला है?"[14] कवि ऐसा इसीलिए कह रहा है क्योंकि सन् 1947 के बाद शांतिदूत राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी को आजादी के फलस्वरूप सीने पर खाने को दो गोलियाँ मिलीं। राजनीति के क्षेत्र में इसी बिन्दु पर आकर गाँधीवादी विचारों का अंत हुआ। तत्पश्चात् जो गाँधीवादी विचारक आए वह मात्र दिखावे के रूप में गाँधीवादी राजनीति करते रहे। सत्ता जिन लोगों के हाथों में आई उनमें से किसी भी राजनीतिक दल ने भूख, बेरोजगारी, आतंक, अशिक्षा इत्यादि को रोकने में नाकामयाबी के ही कदम चूमे, कामयाबी तो मात्र एक स्वप्न बनकर ही रह गई।

---

13 रघुवीर सहाय, भीड़ में मैकू और मैं : आत्महत्या के विरूद्ध, पृ. 46, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1967

14 रघुवीर सहाय, प्रश्नमंच : कुछ पते कुछ चिट्ठियां, पृ. 19, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1989

बहरहाल रघुवीर सहाय की ही तरह धूमिल और नागार्जुन भी राजनीति को सामजिक संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में ही देखते हैं किन्तु भीतरी स्तर पर इन कवियों का यदि मूल्यांकन किया जाए तो हम पाते हैं कि तीनों महत्त्वपूर्ण कवियों की राजनीतिक दृष्टि एक दूसरे से भिन्न है। धूमिल की राजनीतिक चेतना गाँव और शहर की राजनीतिक परिधि को पार कर वैश्विक परिप्रेक्ष्य में नहीं जाती। वह केवल गाँव और शहर तक ही सीमित है। धूमिल की राजनीति गाँव और शहर की राजनीति है, जिसमें संशय है, दुविधा है, समाज की परिधि को तोड़कर जंगल में भाग जानें का दुसाहस है। जनता के सहयोग के बिना क्रांति करने का रोमांटिक भाव-बोध है। जीवन और समाज की समस्याओं को सुलझाने के लिए आशा कम निराशा अधिक है। आन्दोलनों के विशाल फ़लक पर देखने की क्षमता नहीं है। वहीं दूसरी तरफ नागार्जुन में धूमिल की तरह पराजबोध नहीं है। वह जंगल में भाग जाने के इच्छुक नहीं है। वह अपने आपको समस्याओं एवं परिस्थितियों के बीच खड़ा करते हैं। जेल जाते हैं, यातनाएँ भोगते हैं, किसी भी प्रकार की परिस्थितियों के सामने अडिग रहते हैं। नागार्जुन की राजनीति साम्राज्य विरोधी चेतना की राजनीति है और यह राजनीति फासीवाद को चुनौती देने के लिए तैयार है। किन्तु नागार्जन की राजनीति में एकमात्र दोष यही है कि यह राजनीति दलीय राजनीति है। गाँधीवादी राजनीति है। और यह गाँधीवादी राजनीति अब गाँधीवादी राजनीति न रहकर विष्ठा और मल की राजनीति मात्र रह गई है-

"राजनीति क्या है? विष्ठा है, मल है।
साहित्य क्या है? गंगा का जल है।"[15]

नागार्जुन को राजनीति में मल तब दिखाई देता है जब उन्हें गाँधीवादी प्रतिबद्धता भ्रष्टाचार एवं झूठे आश्वासनों की ओर अग्रसर होती दिखती है। नागार्जुन की तरह रघुवीर सहाय को भी राजनीति में मल दिखाई देता है किन्तु प्रतिबद्धता में विकार आने के बाद नहीं। बल्कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद शुरूआती दौर से ही उन्हें यह दिखाई देने

---

15 नागार्जुन, अमलेन्दु एम.एल.ए., नागार्जुन चुनी हुई रचनाएँ-2, पृ. 106, संपादक-शोभाकान्त मिश्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1985

लगा था। रघुवीर सहाय की राजनीति जनता के जनतंत्र की राजनीति है। यह दलीय राजनीति नहीं, जंगल की राजनीति नहीं बल्कि जीवन से जूझते हुए मनुष्य की मनुष्यता एवं समानता की राजनीति है। यह सत्य की राजनीति है, सत्याभास की नहीं।

वस्तुतः रघुवीर सहाय की कविता राजनीतिक तो है किन्तु किसी विशेष राजनीतिक दर्शन से परिचालित नहीं है। रघुवीर सहाय की दृष्टि में 'राजनीति' राज्य की नीति नहीं बल्कि जन की नीति है। और इस जननीति को सार्थक एवं मूल्यवान बनाने में जनतांत्रिक मूल्यों का बहुत बड़ा योगदान है। बिना लोकतांत्रिक मूल्यों के जन की नीति चल नहीं सकती। वर्तमान समाज में शासक वर्ग ने व्यापक स्तर पर इन्हीं लोकतांत्रिक मूल्यों को जन से काटने का काम किया। फलस्वरूप एक बहुत बड़ा समुदाय लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति धीरे-धीरे उदासीन होता गया। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जो कवि उभरकर सामने आए उन सभी कवियों में रघुवीर सहाय ही एकमात्र ऐसे कवि थे जिन्होंने लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण के लिए संघर्षरत रहना अपना कर्म समझा और इसको वह जीवनपर्यन्त बखूबी निभाते रहे।

रघुवीर सहाय की यथार्थमूलक बौद्धिकता में गहरा सामाजिक यथार्थ है। इसी सामाजिक यथार्थ से उनका एक विचार निर्मित होता है। और यह विचार आरोपित नहीं बल्कि सहज परिस्थितिजन्य है। यह विचार-वस्तु का कविता में खून की तरह दौड़ते रहना कविता को जीवन और शक्ति देता है। और यह तभी संभव है जब हमारी कविता की जड़ें यथार्थ में हों।''[16] कविता की जड़ें यथार्थ में तभी होंगी जब व्यक्ति विचारधारात्मक स्तर पर लोकतांत्रिक मूल्यों (समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व आदि) के प्रति पूरी तरह समर्पित होकर उसका आंकलन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में करेगा। वह जीवन के लिए ऑक्सीजन के महत्व को समझेगा। विश्व की व्याख्या न करके विश्व को बदलने की बात कहेगा। सामाजिक-आर्थिक विषमता पर आधारित समाज को निरन्तर समझकर, सामाजिक गत्यात्मकता को नियम विहीन नहीं होने देगा। वह अपने व्यक्तित्व को टूट

---

16 रघुवीर सहाय, वक्तव्य : दूसरा सप्तक, सम्पादक अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, संस्करण-1999

कर बिखरने नहीं देगा। वह अनुभव को सीमितता में नहीं बल्कि समग्रता में पकड़ेगा। वह यथार्थ का वैचारिक आंकलन आस्तिकता और नास्तिकता में नहीं बल्कि वास्तविकता (सत्य) में करेगा। और वास्तविकता इन्सान की शक्ल में होती है जिसके आप टुकड़े नहीं कर सकते। अपनी शक्ल को जनता में देखना ही सत्ता-संरचना को उसकी समग्रता में पकड़ना है। जनता की समस्याओं का सामाजिक परिप्रेक्ष्य में आँकलन करना है। वस्तुतः कवि यहां जीवन और अनुभव की विविधता को काव्य-बोध बनाकर दर्शन के ऊपर भी एक दर्शन (यथार्थवादी सामाजिक दर्शन) और राजनीति के ऊपर भी एक राजनीति (जन की नीति, राज्य की नहीं) निर्मित करता है। और इसीलिए ही कवि समाज में प्रचलित किसी विशेष दर्शन या विशेष राजनीति को स्वीकार नहीं करता, उसके प्रति पूर्ण रूप से प्रतिबद्धता व्यक्त नहीं करता। कवि केवल उसी दर्शन या राजनीति को मान्यता देने के पक्ष में है जो सामाजिक हो, वास्तविक हो, समतामूलक हो। किन्तु स्वतंत्र भारत में कवि को ऐसी राजनीति दिखाई नहीं देती। एक स्वस्थ राजनीति ही कविता में जान और मान पैदा करती है। कवि की स्वीकारोक्ति निम्न है-''शमशेर बहादुर का यह कहना मुझे बराबर याद रहेगा कि जिन्दगी में तीन चीज़ों की बड़ी जरूरत है-ऑक्सीजन, मार्क्सवाद और अपनी वह शक्ल जो हम जनता में देखते हैं।...यह दृष्टिकोण समाजिक, वास्तविक, साम्यवादी और इसलिए सही और स्वस्थ होगा। तभी कविता में जान और माने पैदा होंगे।''[17]

रघुवीर सहाय का रचनाकर्म समाज की समझ और उस समझ में राजनीति की अनिवार्यता से ही निर्मित हुआ है। रचना या सृजन करने की सर्वप्रथम शर्त समाज के यथार्थ को ठीक तरह से समझना होता है। यथार्थ की समझ यथास्थिति नहीं है। यथार्थ वह नहीं है जो दिखाई देता है बल्कि उस दिखाई देने वाले वस्तु और दूसरी वस्तु के बीच बनने वाले सम्बंधों से ही यथार्थ निर्मित होता है। यथार्थ की सही समझ रचना को सार्थक एवं रचनाकार को पहचान दिलाती है। रघुवीर सहाय ने इसी क्रम में जीवन को

---

17 रघुवीर सहाय, वक्तव्य : दूसरा सप्तक, सम्पादक-अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, संस्करण-1999

सूक्ष्मता से पकड़ने की कोशिश की। और इस कोशिश में उनके बौद्धिक आत्मानुभूति पर सुमित्रानन्दन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सचिदानन्द हीरानन्द वात्स्यानन अज्ञेय तथा शमशेर बहादुर सिंह का प्रभाव पड़ा, जिन्होंने रघुवीर सहाय को आगामी रचनाओं के लिए काफी तैयार किया। रघुवीर सहाय द्वारा कही गई निम्न पंक्तियों से इस बात की पुष्टि हो जाती है-''पंत और 'निराला' का अगर असर हुआ तो बहुत टेढ़े तरीके से। अन्य आधुनिक कवियों में 'अज्ञेय' और शमशेर बहादुर ने जिनकी बौद्धिक आत्मानिुभूति और बोधगम्य दुरूहता किसी हद तक एक ही सा प्रभाव डालती है-मुझे आगामी रचनाओं के लिए काफी तैयार किया है।''[18]

रघुवीर सहाय ने अपनी हर एक रचना में जीवन के सारे पहलुओं को जीवंत अभिव्यक्ति देने की कोशिश की है। और हर जीवंत अभिव्यक्ति में लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन ही पाया।

आज़ादी के फलस्वरूप देश में लोकतंत्र आया किन्तु इस लोकतंत्र ने विसंगतियों और विडम्बनाओं के बीच लोकतंत्र का सर्जन करने वाले मतदाता एवं आम आदमी का जीवन असुरक्षा, हत्या, अपराधीकरण इत्यादि से भर दिया। कवि मानव के इतिहास को मानवीय सम्बंधों के रूप मे मूल्यांकित करता है। और इन मानवीय सम्बंधों में आदमी की अनाहत जिजीविषा को बचाने की समग्र चिन्ता है। यह अनाहत जिजीविषा और कुछ नहीं बल्कि लोकतांत्रिक मूल्य ही है।

रघुवीर सहाय लेखन में उस समय सक्रिय हुए थे जब देश को आजादी मिली थी। कवि स्वप्न और निर्माण के दायित्व से उसी समय जुड़ गया था। कवि अपने रोमांटिक भाव-बोध से निकलकर यथार्थ की ज़मीन पर मानवीय रिश्तों को लोकतांत्रिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करने लगा था। यथार्थ की ज़मीन पर कवि को निरन्तर असुरक्षा का भाव दिखाई देता रहा। यह असुरक्षा का भाव राजनीति के अन्तर्विरोधों, नेताओं के छल-छदम, भ्रष्टाचार, अवसरवादिता इत्यादि से निर्मित हुआ था। असुरक्षा का यह

---

18 रघुवीर सहाय, वक्तव्य : दूसरा सप्तक, सम्पादक-अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, संस्करण-1999

भाव-बोध नेहरू युग से शुरू हुआ था और तत्पश्चात् यह देश में सक्रिय ही रहा। शासनतंत्र ने वह माहौल ही नहीं बनने दिया जिससे व्यक्ति अपना सम्पूर्ण विकास कर सके। कवि ने इन परिस्थितियों में लोकतंत्र को राजतंत्र में परिवर्तित पाया।

''भारतीय लोकतंत्र राजतंत्र का ही दूसरा नाम है।''[19]

और इस राजतंत्र में निरंकुशता है। यह लोकतंत्रात्मक नहीं है क्योंकि इसमें लोकेच्छा का आदर नहीं है, इसमें लोकहित सर्वोपरि नहीं है।

लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण के लिए संघर्षरत कवि ने लोकतांत्रिक मूल्यों की प्रथम संकल्पना 'हम भारत के लोग' को निसहाय, निर्धन, अपाहिज, असमर्थ एवं असमंजस से पूर्ण पाया। जनता में अविश्वास, भय, आनन्दहीनता, असमानताएँ, अभाव इत्यादि सत्ता वर्ग ने स्वत: ही लोगों में भर दीं। ऐसा तानाशाही और राजशाही वाली शासन व्यवस्थाओं में होता है, लोकतंत्र में नहीं। सत्ता वर्ग ने भारतीय लोकतंत्र में लोगों को लोकतंत्र की दृष्टि से न देखकर उन पर मात्र शासन करने की दृष्टि से देखा। जनता को स्वतंत्र भारत में भी शासक वर्ग ने गुलामी और आधीनता से मुक्त नहीं होने दिया। ऐसा भारत बनने ही नहीं दिया जिसमें सभी समुदाय के लोग मेल-जोल से रहें औन अपना आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें। गाँधी जी की उस महत्त्वपूर्ण परिकल्पना को यहाँ पर धाराशाही कर दिया गया जो उन्होंने सन् 1931 में अपनी सुविख्यात पत्रिका 'यंग इंडिया' में की थी। और पत्रिका में उन्होंने लिखा था कि-''मैं भारत के लिए ऐसा संविधान चाहता हूँ जो उसे गुलामी और आधीतना से मुक्त करे...मैं ऐसे भारत के लिए प्रयास करूँगा जिसे सबसे गरीब व्यक्ति भी अपना माने और उसे लगे कि देश को बनाने में उसकी भी भागीदारी है, ऐसा भारत जिसमें लोगों का उच्च वर्ग और निम्न वर्ग न रहे, ऐसा भारत जिसमें सभी समुदाय के लोग पूरे मेल-जोल से रहें।...मैं इससे कम पर संतुष्ट नहीं होऊँगा।''[20]

यह उपर्युक्त संतुष्टि गाँधीजी की थी किन्तु रघुवीर सहाय वर्तमान लोकतांत्रिक

---

19 रघुवीर सहाय, रघुवीर सहाय रचनावली, भाग-5, पृ. 368, संपादक : सुरेश शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2000

20 महात्मा गाँधी, लोकतांत्रिक राजनीति, पृ. 52, एन.सी.ई.आर.टी., प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, संस्करण-2006

मूल्यों के हनन से संतुष्ट नहीं है। वह लोकतांत्रिक मूल्यों की प्रथम अभिकल्पना 'हम भारत के लोग' को खण्डों में बटा पाते हैं। मेल-जोल की जगह नफरत को पाते हैं-

''लोकतंत्र का मजाक बनते
देख रहे हैं बेहद बूढ़े
कुछ कम बूढ़े कहें कि कया यह लोकतंत्र है?
इनमें से भी कम बूढ़े कहते हैं कि मार दो
बेहद कम बूढ़ों को नफरत लोकतंत्र से
बाकी सबको एक दूसरे से नफ़रत है।''[21]

उपर्युक्त पंक्तियाँ आजादी से लेकर वर्तमान दौर की उस लोकतांत्रिक विडम्बना को अभिव्यक्त करती हैं जिससे लोग घृणा करते हैं। लोकतंत्र का ऐसा रूप देखते-देखते पूरी एक पीढ़ी बीत गई। इस दौर में एक पूरा समाज मरता गया और जिन्हें लोकतंत्र से तो घृणा थी ही, अब स्वयं एक-दूसरे से भी घृणा होती जा रही है। और इन स्थितियों का जनक वर्तमान लोकतंत्र ही है। इन वर्तमान परिस्थितियों में व्यक्ति सत्तावर्ग की तरह ही दूसरे व्यक्ति पर भी विश्वास नहीं करना चाहता है। यह अविश्वास नेहरू युग की उपज थी। नेहरू का समय बड़ा ही सम्मोहनकारी था। यह सर्वाधिकारवादी समय था। नेहरू का यह मानना था कि समाज में संपदा सामूहिक रूप से पैदा होती है और समाज में उसका प्रबंधन एवं बँटवारा समानता पर आधारित होना चाहिए। समाज में इस तरह से कानून बनाए जाएँगे ताकि आर्थिक असमानताएँ कम हों। 15 अगस्त 1947 की मध्यरात्रि के समय संविधान सभा में दिए गए जवाहरलाल नेहरू की प्रसिद्ध पंक्तियाँ थीं-''वर्षों पहले हमने अपनी नियति के साथ साक्षात्कार किया था, और अब वक्त आ गया है कि हम अपने वायदों पर अमल करें- पूरी तरह या हर तरह से नहीं तो काफी हद तक। घड़ियां जब ठीक मध्यरात्रि का घंटा बजाएँगी, जब सारी दुनिया सोती होगी, तब भारत नए जीवन की शुरूआत करेगा, आज़ाद होगा।... आज़ादी के जन्म से पूर्व

---

[21] रघुवीर सहाय, बूढ़े : कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ, पृ. 54, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1980

हमने पूरी प्रसव पीड़ा झेली है और इस क्रम में हुए दुखों से हमारा दिल भारी है। इसमें कुछ दर्द अभी भी बने हुए हैं। फिर भी, इतिहास अब बीत चुका है और अब भविष्य हमें सुनहरे संकेत दे रहा है।''[22]

भविष्य के इस सुनहरे संकेत में दरिद्रता का, अज्ञानता का, भ्रष्टाचार का, बीमारियों का, अवसर की असमानता इत्यादि का अंतनिहित था किन्तु यह स्वप्न जल्द ही टूट कर बिखर गया। इस बात का खुलासा भारत-चीन युद्ध (1962) के दौरान हुआ। युद्ध से पूर्व भारत को एक सुनहरा स्वप्न दिखा दिया गया था किन्तु युद्ध के बाद वह स्वप्न यथार्थ में परिवर्तित नहीं हो सकता था, वह यथार्थ की पहुँच से बहुत दूर था। और नेहरू की 'हर आँख से आँसू पोछने की कामना' सैद्धान्तिक स्तर से व्यावहारिक स्तर पर आते ही ध्वस्त हो गई। सपने और वादे से भरे स्वप्नलोक के खंडित होने की नेहरू की स्वीकृति निम्न पंक्तियों में देखी जा सकती है- ''अब तक राष्ट्र एक स्वप्न में जीवित था और अब आधुनिकता की ओर धकेला गया है।''[23]

नेहरू यहाँ यह स्पष्ट संकेत देते हैं कि 'लोकतांत्रिक राष्ट्र की स्थापना का स्वप्न, नई सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का स्वप्न, राजनैतिक लोकतंत्र का आर्थिक लोकतंत्र में रूपान्तरण अर्थात् देश की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने का स्वप्न तथा बैलगाड़ी युग को वैज्ञानिक युग तक पहुंचाने का स्वप्न सभी ध्वस्त हो चुके हैं। अर्थात् लोकतांत्रिक मूल्यों के पतन की शुरूआत हो चुकी है। और अब राष्ट्र आधुनिकता की ओर धकेला गया है। यह सुविख्यात तथ्य है कि राष्ट्र अभी इस आधुनिकता को अपनाने के लिए तैयार भी नहीं था, उसे जबरदस्ती एक तरह से धकेला गया। सत्य, अहिंसा, सेवा और परोपकार का इस आधुनिकता में कोई स्थान न था। यह आधुनिकता चीन युद्ध, पूँजीवाद तथा डार्विन के विकासवाद से उत्पन्न हुई थी। औद्योगिकरण के माध्यम से ही मानव की सम्पूर्ण समस्याओं को सुलझाने का दावा किया जाने लगा। इस

---

22 जवाहरलाल नेहरू, लोकतांत्रिक राजनीति, पृ. 53, एन.सी.ई.आर.टी. प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 2006

23 जवाहरलाल नेहरू, इंडिया सिंस इंडेपेंडेस- सोशल रिपोर्ट ऑल इंडिया 1947-1972, पृ. 304, सम्पादक श्यामचरण दूबे

आधुनिकता में विज्ञान और धर्म ने निर्माण और विनाश का कार्य मानवीयता की पुनर्प्रतिष्ठा करने में नहीं बल्कि उसका हनन करने में की। मूल्य संकट एवं मूल्य संक्रमण, संत्रास एवं अलगाव, अस्तित्व चेतना वैज्ञानिकता के युग में राष्ट्र ने प्रवेश किया। और इन्हीं तत्वों को आधुनिकता की पहचान माना जाने लगा।

नेहरू को एक विश्वनेता बनने की महत्त्वपूर्ण आकांक्षा थी, जिसके लिए उन्होंने पंचशील का सिद्धान्त निर्मित किया था। नेहरू को यह विभ्रम था कि पूरी दुनिया इस सिद्धान्त को स्वीकार कर इससे संचालित होने लगेगी। अपने इसी सिद्धान्त के बल पर उन्होंने चीन की पक्षधरतरा के प्रति प्रतिबद्धता भी जाहिर की थी। युद्ध से पहले और युद्ध के बाद भी वह चीन के हिमायती बने रहे। अपनी इसी नीति के कारण उन्होंने देश की सुरक्षा और फ़ौजी निगरानी भी छोड़ दी थी। परिणामस्वरूप युद्ध हुआ और भयानक आर्थिक समस्याओं से भारतीय जनता को जूझने के लिए छोड़ दिया गया। नेहरू के अर्थों में यही भारतीय आधुनिकता थी। जनता को आधुनिकता के रूप में गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी, आर्थिक असमानता, सामाजिक असमानता इत्यादि मिली। इसके बावजूद भी नेहरू संयुक्त राष्ट्र से चीन को सदस्यता दिलाने के लिए पैरवी करते रहे। लोहिया ने इस बात पर खेद व्यक्त किया था। नेहरू सरकार के प्रति अविश्वास प्रस्ताव लाने के लिए लोहिया ने कोई कसर नहीं छोड़ी थी और कहा था कि ''चीन हमारे देश पर हमला किए हुए हैं। फिर भी भारत संयुक्त राष्ट्र में चीन की सदस्यता के लिए पैरवी करता है। कोई लाड़ला अपनी माँ के बलात्कारी के साथ अपनी माँ की शादी करवाने की इच्छा करे, यह कैसी बात है।''[24]

लोहिया के इस महत्त्वपूर्ण कदम से संसदीय कानून में एक हंगामा सा मच गया था और तत्पश्चात् समाजवादी समूह की ओर से आचार्य कृपलानी ने अविश्वास प्रस्ताव लाने का जिम्मा उठाया था। और उन्होंने मंत्रीपरिषद् के प्रति अविश्वास प्रकट किया था। ''समाजवादी समूह की ओर से आचार्य कृपलानी ने सदन में एक पंक्ति का प्रस्ताव रखा, ''यह सदन मंत्रिपरिषद् के प्रति अविश्वास प्रकट करता है।'' इस प्रस्ताव पर

---

[24] राममनोहर लोहिया, युवा संवाद, पृ. 45, सम्पादक : ए.के.अरूण, अंक 72, मार्च 2009

बोलते हुए लोहिया ने सरकार की नीतियों के चलते भारत की बदहाली, विषमता, पंडित नेहरू पर होने वाला खर्च, चीनी हमने के समय सरकारी नीतियों की गड़बड़ी पर ध्यान केन्द्रित किया और सही अर्थों में सरकार की बखिया उधेड़ दी। इस प्रस्ताव को पास नहीं होना था...पर इस प्रसताव ने एक बार में अनेक सवालों और चर्चाओं को खड़ा किया।''[25]

नेहरू ने भारत के जिस आर्थिक व्यवस्था की नींव रखनी चाही थी वह देश की स्थिति, प्रकृति और स्वभाव के अनुकूल नहीं थी। नेहरू पश्चिमी देशों की तरह पहले औद्योगिक क्रांति चाहते थे तत्पश्चात् राजनीतिक क्रांति। किन्तु भारत में पहले राजनैतिक क्रांति आई और फिर औद्योगिक क्रांति लाने के लिए प्रयत्नरत रहना था। इसी महत्त्वपूर्ण बिन्दू पर आकर नेहरू असफल हो गए। उन्होंने आर्थिक ढाँचे में बदलाव का सिलसिला नीचे के तबकों से शुरू न कर महानगरीय औद्योगिक संस्थाओं से किया। आर्थिक विकास की प्रक्रिया नीचे से ऊपर नहीं बल्कि ऊपर से नीचे की ओर थोपी जाती रही। परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था और सामाजिक सम्बंधों की रचना नहीं हो पाई। जिसके फलस्वरूप असंतुलन की स्थिति पैदा हो गई। इस असंतुलन ने ऐसी त्रासदी को जन्म दिया जिसका शिकार श्रमजीवी समाज होता गया।

कवि रघुवीर सहाय ने नेहरू और नेहरूयुग को बहुत ही गहराई से समझा था। बूढ़े और बच्चों की असुरक्षा, बाल श्रमिकों के शोषण, नारी शोषण, भुखमरी इत्यादि सामाजिक और आर्थिक संक्रमण की प्रक्रिया पर वह समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार करते हैं और विचार करने के बाद इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि राजनीतिक स्वतंत्रता को आर्थिक स्वतंत्रता में बदलने का स्वप्न मात्र एक स्वप्न ही है क्योंकि गरीबी की रेखा से नीचे का जीवन जीने के लिए जनता का एक बहुत बड़ा तबका अभिशप्त है। और इस अभिशप्तता को नजरअंदाज करके सरकार विश्व आर्थिक व्यवस्था की बात करती है, क्षेत्रीय और वर्गीय विषमताओं को निरन्तर बढ़ा रही है। जनता की यह अभिशप्तता और

---

25 आचार्य कृपलानी, डॉ. लोहिया और संसद : युवा संवाद, पृ. 46, संपादक-ए.के अरूण, अंक-72, मार्च 2009

विषमता आंतरिक उपनिवेशीकरण के कारण है। कवि ने देश की सही नब्ज़ पकड़ी थी। कवि रघुवीर सहाय ने गहन चिंतन और मनन के बाद अर्थात् चीन युद्ध और उससे उत्पन्न परिस्थितियों को तत्कालीन परिस्थितियों से जोड़कर देखने के बाद अक्टूबर 1965 में कल्पना पत्रिका में लिखा था कि-''साहित्य में काफी खलबली मची थी। उस समय सबको दो चीजों की चिंता थी-देश की और नेहरू की। आज नेहरू नहीं है, पर देश है और पहले से ज्यादा मजबूत है क्योंकि अब उसे सिर्फ अपनी फिक्र करनी है।''[26]

नेहरू ने आर्थिक व्यवस्था को बदलने की बात कही थी और उसे आधुनिकता की एक नई पहचान बताई थी। किन्तु रघुवीर सहाय की दृष्टि में मात्र आर्थिक व्यवस्था को बदल देना ही आधुनिकता नहीं है। आर्थिक व्यवस्था ही एकमात्र आधार नहीं है जिस पर आप अधिरचना निर्मित कर सकते हैं। यहाँ मार्क्स का वह महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त काम नहीं करता कि सभी समस्याओं के मूल में अर्थ (धन) है। और इसमें परिवर्तन करने से सारी समस्याओं को सुलझाया जा सकता है। आर्थिक व्यवस्था के अलावा और भी महत्त्वपूर्ण चीजें हैं जिनमें बदलाव या परिवर्तन लाने की जरूरत है। आर्थिक व्यवस्था को मात्र बदल देने या सुधारने से लोकतंत्र या आधुनिकता की समझ विकसित नहीं हो जाती। बल्कि आधुनिकता तो तब आती है जब प्राचीनता और नवीनता का संघर्ष हो और यह संघर्ष मानवीय, स्थिति, प्रकृति और स्वभाव के अनुकूल हो। सच्ची आधुनिकता तो विचार और कर्म को स्वतंत्र रखने में है। आधुनिकता वास्तविक विज्ञान में है, विनाश में नहीं। आधुनिकता तो चीजों के टूटने और फिर उनके बनने में है-''आर्थिक व्यवस्था को बदल देने से लोकतंत्र या आधुनिकता की समझ नहीं आ जाएगी, बीच के रास्ते में कितनी ही चीजों का टूटना और उनका फिर बनना भी एक संघर्ष का तकाजा करेगा।''[27]

रघुवीर सहाय की दृष्टि में लोकतंत्र का आधार आर्थिक नहीं बल्कि सामाजिक

---

26 रघुवीर सहाय, कल्पना, अक्टूबर 1965

27 रघुवीर सहाय, रघुवीर सहाय रचनावली, भाग-3, पृ. 144, संपादक- सुरेश शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2000

सांस्कृतिक और राजनीतिक है। मात्र आर्थिक व्यवस्था को बदल देने से भ्रष्टाचार में लिप्त लोकतंत्र नहीं बदल सकता और न ही आधुनिकता की समझ विकसित हो सकती है। आधुनिकता तो चीजों के टूटने और फिर उनका नया बनने में है। आकांक्षाओं के प्रति मोहभंग और उससे उपजी नई मन: स्थिति में है। और इस मन: स्थिति में समाज का बाहरी रूप नहीं बल्कि आन्तरिक रूप सम्मिलित हो तभी आधुनिकता की सही व्याख्या हो सकती है। सत्ता वर्ग ने आज़ाद भारत में किसी भी प्रकार का वास्तविक गुणात्मक परिवर्तन नहीं किया। सत्ता वर्ग ने समाज का केवल बाहरी रूप बदलने पर बल दिया, उसकी आंतरिक संरचना को यथास्थितिवादी ही रहने दिया।

''बाँध में दरार
पाखण्ड वक्तव्य में
घटतौल न्याय में
मिलावट दवाई में
नीति में टोटका
अहंकार भाषण में
आचरण में खोट हर हफ्ते मैंने विरोध किया
सचमुच स्वाधीन हो जाने का इतना भय
एक दास जाति में।''[28]

आधुनिकता से एक नई सोच तो नहीं विकसित हुई। हाँ इतना जरूर है कि पाखण्ड, घटतौल, मिलावट, नीति (भ्रष्ट), अहंकार इत्यादि सत्ता वर्ग ने जरूर विकसित किए। आधुनिकता को युगबोध एवं समसामयिकता से अलगाया नहीं जा सकता। आधुनिकता प्राचीनता और नवीनता के संक्रमण से पैदा होती है। संक्रमण काल में पुरानी आस्थाओं के टूटने से बनी नई आस्थाओं के मध्यम एक अराजकता की स्थिति पैदा हो जाती है तथा यह अराजकता विकास की सोच को अवरूद्ध करती है। परिणामस्वरूप पारंपरिक

---

[28] रघुवीर सहाय, 'एक अधेड़ भारतीय आत्मा : आत्महत्या के विरूद्ध, पृ. 84, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2000

समाज और अर्थव्यवस्था का तेजी से विघटन होता है तथा नई अर्थव्यस्था और सामाजिक सम्बंधों की रचना नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में विकास के लिए जो व्यवहारिक और सैद्धान्तिक उपाय किए जाते हैं, वह आधुनिकता कहलाती है। क्योंकि इन व्यवहारिक और सैद्धांतिक उपायों में मनुष्य के मूल अधिकारों के लिए संघर्ष की नैतिक चेतना होती है। इसीलिए इसमें परिवर्तन की संभावना भी बनी होती है। कवि इसी परिवर्तन को बराबर पहचानने पर जोर देता है ताकि आधुनिकता की सही समझ विकसित हो सके। रघुवीर सहाय के शब्दों में-''आधुनिकता इसके सिवाय क्या है कि वह मनुष्य के मूल अधिकारों के लिए संघर्ष की नैतिक चेतना हो और गुलाम बनानेवाली, समाज को रचना के साधनों से तोड़नेवाली और स्वयं रचना की संश्लिष्टता को खंडित करने वाली नीति न हो। दासों को राजाज्ञा से एक में जोड़नेवाली राजनीति राष्ट्रीयता की विकृत परिभाषा करती है और किसी नई नैतिकता की खोज ऐसी विकृत राजनीति में संभव नहीं हो पाती। आधुनिकता अपने संस्कार द्वारा नई नैतिकता की खोज है जो मनुष्य के द्वारा दमन, शोषण और गुलामी के विरूद्ध होती है। यह खोज आज़ादी के पक्ष में है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गुलामी और दमन का विस्तार एक झूठी आधुनिकता के बहाने होता दिख रहा है और जितने बड़े ताकतवर साधन इसके लिए प्रयुक्त किए जा रहे हैं उतने ही विश्व पैमाने पर मानवीय जीवन में समता और स्वाभिमान के लिए उपायों की खोज जारी है।''[29]

लोकतांत्रिक मूल्यों में दूसरी महत्त्वपूर्ण संकल्पना 'न्याय' की थी। लोकतंत्रात्मक गणराज्य में उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय दिलाने की बात कही गई थी। स्वतंत्रता से पूर्व न्यायिक व्यवस्था ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत सामन्ती राजाओं के हाथों में थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात लोगों में 'न्याय' की संकल्पना को लेकर एक नए प्रकार का उत्साह था। जंगलराज का अंत हो चुका था और अब जनता नए जीवन की शुरूआत एक नए परिप्रेक्ष्य में करने के लिए उत्सुक

---

[29] रघुवीर सहाय, रघुवीर सहाय रचनावली-3, पृ. 147, संपादक-सुरेश शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2000

थी। स्वातंत्र्योत्तर भारत में न्याय अन्याय में परिवर्तित हो गया। न्याय का सार तत्त्व जनसामान्य की भलाई न रहकर शासक वर्ग और पूँजीवादी वर्ग की भलाई मात्र रहा गया है। न्याय के आदर्श को मानवीय विकास की मूल आवश्यकताओं के आदर्श को मानवीय विकास की मूल आवश्यकताओं के संदर्भ में नहीं देखा जा रहा है।

''खुले में विवश बृहन्नलायी-दण्डाधिकारी न्याय की क्या रक्षा करेंगे समझ में आ सकता है। आज उच्चतम न्यायालय से लेकर उच्च न्यायालयों तक निर्णय एक एक दिन के अंतराल से बदले जा रहे हैं। संस्कृत नाटकों / नाटिकाओं में विदूषक राजा के मित्र क्यों होते थे आज के चार दशक पूर्व समझ में नहीं आता था पर आज तो न्यायाधीशों / राजनेताओं / प्रत्यक्ष सेवा के अधिकारियों / अन्य राजपुरुषों के आचरण को देखकर खूब समझ में आ रहा है। सब एक दूसरे को टंगड़ी मारकर गिराने में लगे हुए हैं। दलाल सर्वत्र आनन्द व मौज़ मना रहे हैं, समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त है।''[30]

रघुवीर सहाय इस न्याय व्यवस्था को बहुत ही बारीकी से देखते हैं और लोकतांत्रिक मूल्य की इस महत्त्वपूर्ण संकल्पना का पतन पाते हैं। न्याय व्यवस्था के मूल में वह भ्रष्टाचार को पाते हैं। और इस भ्रष्टाचार के सबसे बड़े नियामक शासक वर्ग के आलाधिकारी हैं। न्यायव्यवस्था ने वर्तमान लोकतंत्र को प्रजातंत्र से जंगलतंत्र में परिवर्तित कर दिया है। और इस जंगलतंत्र में व्यक्ति को बता दिया जाता है कि उसकी हत्या होगी। हत्या से उसे बचाया नहीं जा सकता क्योंकि हत्यारों को कानून का संरक्षण प्राप्त है। जिसकी हत्या होगी उसके साथ कानून न्याय नहीं कर सकता, उसे बचा नहीं सकता है। रघुवीर सहाय इस अन्यायपूर्ण तथ्य को निम्नलिखित पंक्तियों के माध्यम से वर्णित करते हैं-

''निकल गली से तब हत्यारा
आया उसने नाम पुकारा
हाथ तौलकर चाकू मारा

---

30 अश्विनी कुमार वर्मा, भारतीय राष्ट्र के आत्मघात के पचास वर्ष : स्वंत्र भारत के पचास वर्ष, भा-2, पृ. 35, संपा. भालचन्द्र गोस्वामी, पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, 1998

छूटा लोहू का फव्वारा

कहा नहीं था उसने आखिर उसकी हत्या होगी।''[31]

लोकतांत्रिक मूल्यों में तीसरी महत्त्वपूर्ण संकल्पना 'स्वतंत्रता' की थी। व्यक्ति को विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता के प्रति संविधान में प्रतिबद्धता वयक्त की गई थी किन्तु स्वतंत्रयोत्तर भारत में नागरिकों को ऐसा कुछ नहीं मिला। स्वतंत्र भारत में व्यक्ति को सोचने का अधिकार भी नहीं रहा क्योंकि उसकी सोच और विचारों की अभिव्यक्ति पर शासक वर्ग का अप्रत्यक्ष रूप से भय बना हुआ है। उसे डर है कि यदि उसने अपनी मौलिक सोच को अभिव्यक्त किया तो सत्ता वर्ग उसे पकड़कर विभिन्न प्रकार की यातनाएँ देगी एवं तुरन्त किसी साजिस के जुर्म में सजा सुना देगी। रघुवीर सहाय की वैचारिक दृष्टि इस तथ्य को भलि-भांति रेखांकित करती है। उन्होंने इस बात की पुष्टि निम्न पंक्तियों से की है-

''मैं सब जानता हूँ पर बोलता नहीं

मेरा डर मेरा सच एक आश्चर्य है

पुलिस के दिमाग में वह रहस्य रहने दो

वे मेरे शब्दों की ताक में बैठे हैं

जहाँ सुना नहीं उनका गलत अर्थ लिया और मुझे मारा।''[32]

रघुवीर सहाय व्यक्ति को स्वतंत्रता देने के पक्ष में हैं किन्तु यह स्वतंत्रता असीमित नहीं होनी चाहिए। स्वतंत्रता व्यक्ति में आत्मविश्वास जगाती है। व्यक्ति की मौलिक चेतना की रक्षा करती है, व्यक्ति स्वतंत्र होकर निष्पक्ष भाव से अपने और समाज के सम्बंधों को विकास की ओर अग्रसर करती है। स्वतंत्र भारत में तो स्वतंत्रता का हनन किया गया। स्वाधीन भारत में व्यक्ति स्वाधीन व्यक्ति से चौंक जाता है अर्थात् उसे यह विश्वास ही नहीं होता कि स्वतंत्रता तो देश में है। और जब वह (व्यक्ति) दूसरे व्यक्ति

---

31 रघुवीर सहाय, रामदास : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ. 27, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण-1975

32 रघुवीर सहाय, दो अर्थ का भय : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ. 04, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण-1975

को स्वाधीन देखता है तो सोचता है कि उसका स्वाधीन होना मात्र दिखावा है, एक छल है। यह परतंत्रता है, मिथ्या है। अत: रघुवीर सहाय ने 'स्वतंत्रता' नामक लोकतांत्रिक मूल्य लोकतांत्रिक नहीं बल्कि अलोकतांत्रिक प्रक्रिया की छत्र-छाया में विकसित हो रही है, जिसने व्यक्ति के आदर्शों की हत्या की है उसे स्वाधीनता के नाम से मात्र चौंकाया ही है। और रघुवीर सहाय का मन यपह देखकर व्याकुल हो जाता है। निरन्तर रूप से व्यापक स्तर पर यह लोकतांत्रिक मूल्य पतन की ओर अग्रसर होता गया है। रघुवीर सहाय निम्न पंक्तियों से इस बात की पुष्टि करते हैं-

"खण्डन लोग चाहते हैं या कि मण्डन
या फिर केवल अनुवाद लिस लिसाता भक्ति से
स्वाधीन देश में चौंकते हैं लोग
एक स्वाधीन व्यक्ति से।"[33]

लोकतांत्रिक मूल्यों में चौथी महत्त्वपूर्ण मूल्य की अभिकल्पना समानता की थी। स्वातंत्र्योत्तर भारत में संविधान में इस बात की स्वीकृति दी गई कि कानून के समक्ष सभी लोग समान हैं। सरकार द्वारा हर नागरिक को समान अवसर उपलब्ध कराने की बात कही गई। डॉ. अम्बेडकर ने समानता पर जोर देते हुए कहा था कि सामाजिक और आर्थिक जीवन में यदि हम समानता को नकारेंगे तो अपने राजनैतिक लोकतंत्र को ही संकट में डालेंगे। उनके द्वारा समानता के विषय में कही गई निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य है-"26 जनवरी 1950 को हम विरोधाभासों से भरे जीवन में प्रवेश करने जा रहे हैं। राजनीति के मामले में हमारे यहाँ समानता होगी पर आर्थिक और सामाजिक जीवन असमानताओं से भरा होगा। राजनीति में हम एक व्यक्ति एक वोट और हर वोट का समान महत्व के सिद्धान्त को मानेंगे। अपने सामाजिक और आर्थिक जीवन में हम अपने सामाजिक और आर्थिक ढाँचे के कारण ही 'एक व्यक्ति-एक वोट' के सिद्धान्त को नकाराना जारी रखेंगे। हम इस विरोधाभासपूर्ण जीवन को कितने लम्बे समय तक जीते

---

[33] रघुवीर सहाय, स्वाधीन व्यक्ति : आत्महत्या के विरूद्ध, पृ. 71, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1967

रहेंगे हम अपने सामाजिक और आर्थिक जीवन में कब तक समानता को नकारते रहेंगे? अगर यह नकारना ज्यादा लम्बे समय तक चला तो हम अपने राजनैतिक लोकतंत्र को ही संकट में डालेंगे।''[34]

अम्बेडकर की तरह ही कवि ने भी आज़ाद भारत में इस महत्त्वपूर्ण लोकतांत्रिक मूल्य का पतन व्यापक स्तर पर पाया। कवि की दृष्टि में आज़ाद भारत में समानता का भाव केवल सैद्धांतिक स्तर पर ही रहा। समानता के भाव से एकता की भावना सुदृढ़ नहीं हो सकी अपितु वह टूटकर बिखरती ही गई। इस अवधारणा के अंतर्गत जाति, रग व धर्म के आधार पर व्यक्ति से भेदभाव की प्रवृति बढ़ती गई। समानता की जगह असमानता फैलती ही गई। रघुवीर सहाय इस बात को बहुत ही गहराई से समझ रहे हैं। वह यह भलि-भांति समझ रहे हैं कि राजनेताओं के द्वारा समानता और समाजवादी जीवन पद्धति के बारे में कही गई बात या दिया गया आश्वासन मात्र झूठे वायदे ही रहते हैं जिन पर विश्वास नहीं किया जा सकता। रघुवीर सहाय के अनुसार-''समता मनुष्य जीवन की गरिमा, समाजवादी जीवन-पद्धति के बारे में अब किसी राष्ट्रीय नेता के मुँह से कुछ सुनते ही नेहरू युग के अंतिम दिनों की याद आती है जब उपदेश सुनते-सुनते भारत के कान पक गए थे। सायास कुछ कहने का प्रयत्न करने वाले सत्ताधारी नेता विचार शून्य जान पड़ते हैं। परन्तु ये जब अनायास कुछ कह जाते हैं तो प्रकट होता है कि मनुष्य के बारे में उनके क्या विचार हैं।''[35]

कवि की दृष्टि में व्यक्ति असमानता का दुख सहता जाता है क्योंकि वह सच्चा है। उसमें सहनशक्ति है। लेकिन यह सहनशक्ति अब असहाय होती जा रही है। नेता झूठे हैं, लेकिन वह सबसे अच्छे हैं। रघुवीर सहाय इस तथ्य को भलि भांति अपनी काव्य पंक्तियों के माध्यम से रेखांकित करते हैं-

''हम सहते हैं इसलिए हम सच्चे हैं

---

34 डॉ. अम्बेडकर, लोकतांत्रिक राजनीति, पृ. 53, एन.सी.ई. आर टी प्रकाशन विभाग, दिल्ली, 2006

35 रघुवीर सहाय, रघुवीर सहाय रचनावली-3, भाग-5, पृ. 269, संपादक-सुरेश शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2000

हम जो करते हैं वह ले जाते हैं वे

वे झूठे हैं लेनि सबसे अच्छे हैं।''[36]

बिपिन चन्द्र ने भी इस समान्य से असमान्य होते लोगों के जीवन स्तर की ओर संकेत किया है। विपिन चन्द्र के अनुसार-''सामाजिक न्याय, समता तथा समदृष्टि के स्तर पर भारत का रिकार्ड बहुत दुर्बल रहा है। हालांकि अब औपनिवेशिक काल की गरीबी और भूखमरी नहीं है, फिर भी हम 40 से 50 प्रतिशत निचले तबके के लोगों के जीवन एवं जीवन स्तर को प्रभावी तरीके से ऊंचा उठाने में नाकामयाब रहे हैं। उनकी सामाजिक जरूरतों को न्यूनतम वांछित स्तर पर भी पूरा नहीं किया जा सका है।''[37]

लोकतांत्रिक मूल्यों में पाँचवी महत्त्वपूर्ण मूल्य परिकल्पना बंधुता की थी। बंधुता के बारे में यह कहा गया था कि कोई भी नागरिक किसी दूसरे नागरिक को अपने से कमतर न समझे। भारतीयों को संघटित दृष्टि से रहने के लिए यह एक मानववादी विचार था जो व्यक्तियों के बीच विश्वास, एकता, खुशहाली, सामाजिक अस्तित्व इत्यादि को कायम रखने के लिए बहुत जरूरी था। किन्तु आज़ादी के पश्चात् सत्ता या शासक वर्ग ने पूरे समाज में अनावश्यक नए तनाव, आपसी हिंसा इत्यादि को जन्म दिया। और इसके कारण ही व्यवस्था भ्रष्ट होती गई। रघुवीर सहाय की दृष्टि में इस व्यवस्था को भ्रष्ट करने के लिए तथा समाज में अनावश्यक तनाव बनाने के लिए पुलिस, कानून और गुंडे इसका महत्त्वपूर्ण माध्यम बनते ज रहे हैं-''पूरे समाज में अनावश्यक नए तनाव, आपसी हिंसा को जन्म देते हैं। उसे व्यवस्था बिगड़ने का मामला बनाकर जवाबी हिंसा सत्ताधारी वर्ग की ओर से होती है। पुलिस कानून और आजकल गुंडे हिंसा का साधन बनते हैं पहल रचना के हाथ से निकलकर हिंसा के हाथ में जाती है।''[38]

---

36 रघुवीर सहाय, हमने यह देखा : सीढ़ियों पर धूप में, पृ. 107, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1960

37 विपिन चन्द्र, समकालीन भारत, पृ. 35, अनुवादक-प्रो. ब्रजकिशोर अंशुमा, डॉ. द्वारिका प्रसाद चरूमित्र, अनामिका प्रकाशन, दिल्ली, 2001

38 रघुवीर सहाय, रघुवीर सहाय रचनावली, भाग-5, पृ. 30, संपादक-सुरेश शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2000

रघुवीर सहाय इस आपसी असम्बंध को बखूबी उघारते हैं। उनके द्वारा रचित निम्न काव्य पंक्तियों में इस बात को देखा जा सकता है-

''बिल्ली रास्ता काट जाया करती है
प्यारी-प्यारी औरतें हरदम बक-बक करती रहती हैं
चाँदनी रात को मैदान में खुले मवेशी
आकर चरते रहते हैं
और प्रभु यह तुम्हारी दया नहीं तो और क्या है
कि इनमें आपस में कोई सम्बंध नहीं।''[39]

कवि कहना चाहता है कि बिल्ली यहां पूँजीपति एवं शासकवर्ग का प्रतीक है जो समाज में अच्छे कार्यों को होने नहीं देना चाहते हैं। समाज के विकास के मार्ग को इन्हीं लोगों के द्वारा अवरूद्ध कर दियार जाता है। समाज के निर्माण में स्त्री की बहुत अहम भूमिका होती है। इसी समाज में वह कभी माँ, कभी भाभी, कभी बहन के रूप में आकर हमेशा समाज को एकजुट करने में लगी रहती है किन्तु समाज में स्वयं स्त्री का सम्मान नहीं है। स्त्री की दशा दयनीय एवं अपमानजनक है। एक औरत दूसरी औरत से लड़ती झगड़ती है क्योंकि उनके बीच सम्बंधों का सिलसिला टूट चुका है। शासक वर्ग ने व्यवस्था को इस प्रकार बना दिया है कि एक स्त्री, दूसरी स्त्री या एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर विश्वास नहीं कर रहा है। लोगों में विश्वास की भावना टूटकर अविश्वास उत्पन्न होता जा रहा है। चाँदनी रात अर्थात् सुख-सुविधाओं से सम्पन्न पूँजीपतिवर्ग रात के अँधेरे में जहाँ उजाले की कोई उम्मीद नहीं है उसमें आकर अँधेरे की आड़ में जनता पर कहर ढाते हैं। जनता और शासक वर्ग में किसी भी सामाजिक बात को लेकर कोई आपसी सम्बंध नहीं है। सम्बंध यदि है तो वह मात्र शोषक और शोषित का सम्बंध है। लोकतांत्रिक मूल्यों में सबसे महत्त्वपूर्ण मूल्य 'भारत को एक समाजवादी लोकतांत्रिक देश' बनाने की थी। भारतीय लोकतंत्र को समाजवादी लोकतंत्र

---

39 रघुवीर सहाय, प्रभु की दया : सीढ़ियों पर धूप में, पृ. 147, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, संस्करण-1960

में परिवर्तित करने की थी। समाजवादी लोकतंत्र के विषय में यह कहा गया था कि यह एक ऐसा लोकतंत्र होगा जिसमें संपदा का बँटवारा सामूहिक रूप से किया जाएगा। समाज में संपदा सामूहिक रूप से पैदा होती है और समाज में उसका बँटवारा समानता के साथ होगा। लोगों को इसमें शासन का चुनाव करने और उसे जवाबदेह बनाने का अधिकार होगा। और सकरार इस प्रकार के लोकतांत्रिक देश में नियमों के अनुरूप कार्य करेगी।

स्वयं नेहरू के शब्दों में-''समाजवाद की कई किस्में हैं। मगर एक बात में सब सहमत हैं कि इसका उद्देश्य यह है कि उत्पादन के साधनों यानी खानों, ज़मीन, कारखानों वगैरा पर, और रेलों-जैसे वितरण के साधनों पर, और बैंकों-जैसी संस्थाओं पर भी राज्य का क़ब्जा हो। विचार यह है कि व्यक्तियों को अपने निजी फायदे के लिए इन साधनों या संस्थाओं को दूसरों की मेहनत को निचोड़ने न दिया जाए।''[40]

रघुवीर सहाय इस असमाजवादी व्यवस्था का फैलाव स्वतंत्र भारत में दमनकारी शक्ति के रूप में पाते हैं तथा देश के विभिन्न भागों में पातें हैं। कवि की दृष्टि में वर्तमान समाज व्यवस्था में आम लोगों का जीवन, जीवन-विरोधी शक्तियों के गिरफ्त में है। बूढ़े, बच्चे, स्त्री, मजदूर वर्ग, मतदाता, मध्यवर्ग इत्यादि भ्रष्ट समाज-व्यवस्था के बीच जिजीविषा के लिए निरन्तर संघर्ष कर रहे हैं। वे अर्जुन की तरह व्यवस्था को भेद नहीं सकते किन्तु भीष्म की तरह दुखों का वहन कर सकते हैं।

भारत में लोकतांत्रिक समाजवाद की शुरूआत सन् 1934 ई. में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना से माना जाता है। इसके मूल प्रेरणास्रोतों में विवेकानन्द, दादाभाई नौराजी इत्यादि थे। लेकिन आजाद भारत में समय के साथ-साथ इन महापुरुषों की अमिट छाप मिटती गई। और इस प्रकार समाजवादी लोकतंत्र, असमाजवादी लोकतंत्र में परिवर्तित होता गया। इस असमाजवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था में मक्कार मंत्री, पुलिस, डॉक्टर, प्रधानमंत्री, वकील, बलात्कारी इत्यादि प्रशासनिक संचालक तंत्र के कर्णधार हैं।

---

40 जवाहरलाल नेहरु, विश्व इतिहास की झलक, भाग-2, पृ. 761, अनुवादक : चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, संस्करण-2007

और इन्हीं महान लोगों ने देश की छवि को मलिन किया है। कवि स्थिति को बड़ी ही शिद्दत के साथ चित्रित करता है-''समाज-परिवर्तन के समाजवादी विचार को शत्रु की जासूसी कहा जाता है ओर उसका दमन निश्चित रहता है।''[41]

कवि निम्न काव्यपंक्तियों से समाजवादी व्यवस्था की पोल खोलता है-

''क्या हुआ समाजवाद
कहे महासंघपति पचीस बार हम करेंगे विचार
आँख मारकर पच्चीस बार वह, हँसे वह पचीस बार
हँसे बीस अख़बार।''[42]

लोकतांत्रिक मूल्यों में अन्य महत्त्वपूर्ण मूल्य रोटी, कपड़ा, मकान, प्रकाश व्यवस्था, जलप्रबन्ध, शिक्षा प्रबन्ध इत्यादि प्राथमिक आपवश्यकताएँ हैं। कवि ने स्वतंत्र भारत में इन्हीं मूयों का पतन एक के बाद एक का निरन्तर होते हुए देखरा है।

रघुवीर सहाय के ही शब्दों में-''पिछले कुछ वर्षों में कुछ-एक झूठ चारों तरफ फैले हैं। उनमें एक यह है कि जनता को सबसे पहले रोटी चाहिए। यह कथन झूठ इसलिए है कि यह रोटी को पहले रखकर बाकी चीजों को बाद में रखता है-बताता नहीं कि बाकी चीजें क्या हैं। भ्रम पैदा करता है कि जब पहले रोटी आ जाएगी तो बाकी चीजें भी अपने आप पैदा हो जाएंगी। मानो रोटी और बाकी चीजें अलग-अलग दो बातें हैं और कुल मिलाकर यह सिद्धांत फैलाता है कि रोटी पैदा करने के साधन पर जनता का अधिकार आवश्यक नहीं उसे रोटी दे दी जाती है और यह लोकतंत्र है।''[43]

रघुवीर सहाय ने कविता की निम्न पंक्तियों के माध्यम से भी इस बात की पुष्टि की है-

---

41 रघुवीर सहाय, रघुवीर सहाय रचनावली, भाग-4, पृ. 442, संपादक-सुरेश शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2000

42 रघुवीर सहाय, नयी हँसी : आत्महत्या के विरूद्ध, पृ. 12, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1967

43 रघुवीर सहाय, रघुवीर सहाय रचनावली-4, पृ. 475, डॉ. सुरेश शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2000

''देश पर मै गर्व करने को कहता हूँ
उनसे जो अमीर हैं बड़े स्कूलों में पढ़े हैं
पर उन्हें गर्व नहीं है
गर्व है भूखे-प्यासे अधपढ़े लोगों में।''[44]

कवि यहाँ यह स्पष्ट रूप से कहना चाहता है कि हर दूसरे या तीसरे साल यदि व्यवस्था या पूँजीवादी वर्ग व्यक्ति को जान से नहीं मारता तो उन्हें भूख से तड़पाकर मार देता है। देश का बुद्धिजीवी वर्ग यह कहता है कि देश पर उसे गर्व है। देश पर उसे गर्व है यह कहकर वह देश में फैले व्याप्त भ्रष्टाचार को छुपा देता है। देश की आंतरिक कमजोरियों को जानते हुए भी उन्हें छिपाकर वह दिखावा मात्र करता है। वास्तव में देश पर गर्व बुद्धिजीवी वर्ग को नहीं है बल्कि गर्व भूखे-नंगे भिखारियों, मजदूर वर्ग को है। यह गर्व, गर्व नहीं बल्कि शासन व्यवस्था के प्रति एक खीझ है। यह जहालत भरी जिन्दगी के प्रति एक नफ़रत है जो गरीबों में बसी हुई है। यह गर्व सकारात्मक नहीं बल्कि नकारात्मक है। ठीक इसी तरह की अनुभूति डॉ. राममनोहर लोहिया को भी थी। रघुवीर सहाय ने उनकी सोच को बहुत ही क्रांतिकारी सोच माना। रघुवीर सहाय ने उनके विचारों को निम्न पंक्तियों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है-''आज से करीब दस साल पहले जब राममनोहर लोहिया ने खबर दी थी कि हिन्दुस्तान के 27 करोड़ लोग तीन-तीन आने रोज में बसर करते हैं तो हिन्दुस्तान की संसद एक बार हिल गई थी। संसद क्या हिन्दुस्तान का दिमाग हिल गया था, ऐसा कहना चाहिए। यह खबर दिल दहलाने से ज्यादा आँखें खोलने वाली थी। समाज में आदमी और आदमी के रिश्ते को लेकर जितनी झूठी कपोलकल्पना राजनीति और साहित्य में हो रही थी उसको एक झटके से चूर करने वाली खबर थी यह।''[45]

इस तथ्य को कवि ने निम्न पंक्तियों के माध्यम से भी रेखांकित किया है जिसमें

---

44 रघुवीर सहाय, बड़े देशों की राजनीति : एक ससय था, पृ. 17, संपादक-डॉ. सुरेश शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1995

45 रघुवीर सहाय, रघुवीर सहाय रचनावली, भाग-4, पृ. 425, डॉ. सुरेश शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2000

समाज मर रहा है-

''यह समाज मर रहा है इसका मरना पहचानो मंत्री
देश ही सबकुछ है धरती का क्षेत्रफल सबकुछ है
सिकुड़कर सिंहासन भर रह जाये तो भी वह सब कुछ है
राजा ने मन में कहा जो राजा प्रजा की दुर्बलता नहीं पहचानता
वह अपने देश को नहीं बचा सकता प्रजा के हाथों से।''[46]

इसी संदर्भ में डॉ. कृष्णदत्त पालिवाल ने अपनी पुस्तक 'नवजागरण देशी स्वच्छंदतावाद और नयी काव्यधारा' में उपर्युक्त कविता का विश्लेषण करते हुए कहा है कि- '''करूणा' का जीव-दया वाला संसार ही आज़ादी के बाद मर गया और रह गया वैज्ञानिक-चिंतन, जिसका संदेश है कि करुणावाद-अहिंसावद- मानववाद के लिए अब जगह नहीं है। कवि के लिए भी जगह कहाँ बची है-समाज में संवेदना-शून्य वैज्ञानिक चिंतन में तर्क है, करुणा नहीं है। ... मरता हुआ समाज और सिकुड़ता हुआ देश, कवि की मूल चिंता का विषय है। निरर्थक बुद्धिजीवियों, रिश्वत पीता अफसर, भाई-भतिजावाद पर जीता राजनीतिज्ञ, खोखला होता संसदीय तंत्र, चापलूसी की मीठी लार चाटते आचार्य और मसखरों की भीड़ में 'लोकतंत्र' की लुटिया डूब गई है।''[47]

ठीक इसी तरह स्वास्थ्य प्रबन्ध जो कि जीवन को बनाए रखने के लिए बहुत जरूरी है उसका भी पतन अपवने चर्मोत्कर्ष पर पहुँचा हुआ है। कवि रघुवीर सहाय निम्न पंक्तियों के माध्यम से इस तथ्य को रेखांकित करते हैं-

''किसका आदमी बनता है-दर्द?
दर्द, खैराती अस्पताल में डॉक्टर ने कहा वह मेरा काम नहीं
वह मुसद्दी का है।''[48]

---

46 रघुवीर सहाय, हैं : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ. 75, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण-1975

47 कृष्णदत्त पालीवाल : नवजागरण देशी स्वच्छंदतावाद और नयी काव्यधारा, पृ. 159, स्वराग प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2007

48 रघुवीर सहाय, आत्महत्या के विरूद्ध : आत्महत्या के विरूद्ध, पृ. 88, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1985

कवि की दृष्टि में व्यवस्था ने आदमी को दर्द के सिवाय और कुछ नहीं किया। अर्थात् दर्द की भयानक जंजीरों में व्यक्ति जकड़ता गया है। इस दर्द का ईलाज़ खैराती अस्पतालों के पास नहीं है। डॉक्टर केवल यपह बता सकता है कि ईलाज करना उसका काम नहीं है। वह मुसद्दी का काम है। जिस डॉक्टर को अपना कर्त्तव्य नहीं पता है वह डॉक्टर नहीं अपितु पशु है। पशुता उसमें कूट-कूट कर भरी है। वह जान ले सकता है किन्तु जीवन को बचा नहीं सकता है। चारों तरफ कुपोषण, महामारी, हैजा एवं अन्य प्रकार की बिमारियां फैली हुई है किन्तु इनका ईलाज करने के लिए स्वास्थ्याधिकारी ही नहीं है। यदि गलती से किसी खैराती अस्पताल में डॉक्टर मिल भी जाते हैं तो वह यह कहते हैं कि यह मेरा काम नहीं है। डॉक्टर, डॉक्टरी न करके भ्रष्ट प्रशासन तंत्र का अंग बनकर बीमारियों को और बढ़ावा दे रहे हैं। वह समाज के प्रति, व्यक्ति के प्रति, देश के प्रति, लोकतंत्र के प्रति उत्तरदायी नहीं है।

लोकतांत्रिक मूल्यों में अन्य महत्त्वपूर्ण मूल्य जल प्रबन्ध है। जल को जीवन का पर्याय माना गया। प्राणी की बुनियादी आवश्यकताओं में सर्वप्रथम पानी ही है। व्यक्ति को स्वतंत्र भारत में रोटी, कपड़ा और घर की बात तो बहुत दूर की बात है, जल की समुचित व्यवस्था भी नहीं है। व्यक्ति आजाद भारत में अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु हर रोज मर-मर कर जीता जा रहा है। उच्च वर्ग या पूँजीवादी वर्ग या शासक वर्ग पानी के लिए निर्धन एवं असहाय जनता को बरसों से पानी के लिए तरसाते आ रहे हैं। और स्वयं वे लोग उपभोक्तावादी संस्कृति से विकसित मँहगे पेय पदार्थों का सेवन कर रहे हैं। व्यक्ति पानी के प्यास में ही जीवन की प्यास ढूँढ रहा है-

"पानी पानी
बच्चा बच्चा
हिन्दुस्तानी
माँग रहा है
पानी पानी।"[49]

---

[49] रघुवीर सहाय, पानीपानी : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ. 5, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण-1975

शिक्षा क्षेत्र की हालत भी कुछ इसी तरह की है। शिक्षा में छात्रवृत्ति तभी दी जाएगी जब शासक वर्ग को यह यकीन हो जाए कि शिक्षार्थी के पिता की हत्या हो गई है। उसे सहारा देने वाला कोई नहीं है। अर्थात् हत्या होनी जरूर चाहिए-''शिक्षा विभाग ने कुछ दिन पहले ही घोषित किया है। छात्रवृत्ति के लिए अर्हता में यह भी शामिल हो कि छात्र के पिता की हत्या हो गयी है।''[50]

ठीक इसी तरह गरीब व्यक्ति के पास न तन ढकने के लिए वस्त्र है और न ही खाने के लिए खाना। वहीं दूसरी तरफ प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के वस्त्र इंग्लैंड से धुलकर आते थे। कवि की पीड़ा निम्न पंक्तियों से द्रष्टव्य हो जाती है-

''मैंने सब पुराने कपड़े हटा दिए
जो कि रखे थे कि शायद फिर गरीबी आ जाएगी
उनकी जगह नए कपड़े हो जाएँ यह चाहा
वह इच्छा आखिरी वक्त की इच्छा लगने लगी।''[51]

लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन निरन्तर हो रहा है जिसने लोकतंत्र को अंतिम क्षण में पहुँचा दिया है।

उप-अध्याय (घ) : 'निष्कर्ष'

रघुवीर सहाय की वैचारिक दृष्टि कोई शाब्दिक प्रक्रिया या मानसिक प्रक्रिया नहीं है, बलिक वह एक व्यावहारिक समझ है। और यह व्यावहारिक समझ अनुभव की देन है। रघुवीर सहाय की कविताओं के जो वैचारिक आयाम है उनका निर्माण जन पक्ष के लोकतांत्रिक मूल्यों से हुआ है। उनकी विचारधारात्मक सीमा जनपक्ष्ज्ञ के लोकतांत्रिक मूल्यों की पक्षधरता तक ही सीमित नहीं है बल्कि सत्ता और रचना के तनाव से आगे जाकर मानवीय रिश्तों के औचित्य तक जाती है। रघुवीर सहाय वर्तमान लोकतंत्र को विकास का लोकतंत्रीय मॉडल न मानकर उसे मात्र सत्ता के जरिए सम्पत्ति संग्रहण व

---

50 रघुवीर सहाय, लोग भूल गए हैं : लोग भूल गए हैं, पृ. 49, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1989

51 रघुवीर सहाय, आखिरी वक्त : लोग भूल गए हैं; पृ. 54, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1989

बर्बादी का भंडार प्रस्तुत करने वाला एक प्रस्तोता मात्र मानती है। इस अलोकतांत्रिक मॉडल में लोकतांत्रिक मूल्यों जैसे-समता, स्वतंत्रता, न्याय, जलप्रबन्ध, प्रकाश व्यवस्था, परिवहन प्रबन्ध, शिक्षा प्रबन्ध, व्यापार प्रबन्ध इत्यादि का अमानवीय रूप से हनन एवं पतन अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुँचा हुआ है। वर्तमान लोकतंत्र में जनता कुत्ते की मौत मरने के लिए अभिशप्त है। कवि इस अलोकतांत्रिक देश में अपने लिए बचे रहने का भावना विकसित करने की सोचता तो है किन्तु वह जैसे ही भावनात्मक से विचारात्मक स्तर पर आता है। तुरन्त अपनी जिम्मेदारी को महसूस करने लगता है। वह साहित्य के मोर्चे से प्रतिरोध के स्वर विकसित कर भ्रष्टाचार के खिलाफ, शासक वर्ग के खिलाफ, पूँजीपति वर्ग के खिलाफ लड़ना चाहता है। कवि जनपक्षधरता की परम्परा में लोकतंत्रीय चेतना को विकसित करना चाहता है। रघुवीर सहाय ही एकमात्र ऐसे कवि हैं जिन्होंने लोकतांत्रिक मूल्यों को काव्य का विषय बनाया। लोकतंत्र को काव्य का विषय बनाने वाले अन्य महत्त्वपूर्ण कवि भी हुए हैं किन्तु उन्होंने लोकतांत्रिक मूल्यों के पतन को उस तरह से रेखांकित नहीं किया। जिस तरह रघुवीर सहाय ने किया है। धूमिल, नागार्जुन, मुक्तिबोध इत्यादि के काव्य में लोकतंत्र का चित्रण हुआ है किन्तु इनका लोकतंत्र रघुवीर सहाय के लोकतंत्र से इस अर्थ में भिन्न है कि धूमिल लोकतंत्र को मार्क्सवादी धारा से देखने के पश्चात् भी संशयग्रस्त होकर अनावश्यक आवेश की स्थिति में आ जाते हैं। बाबा नागार्जुन लोकतंत्र को गाँधीवादी धारा की दृष्टि से देखते हैं, मुक्तिबोध मार्क्सवादी एवं साम्यवादी विचारधारा से लोकतंत्र को देखते हैं जबकि रघुवीर सहाय लोकतंत्र के सजग प्रहरी बन लोकतंत्र को संविधान की फ्रेम से देखते हैं। रघुवीर सहाय किसी वर्ग या वर्ण विशेष के प्रश्नों को लेकर लोकतंत्र को नहीं घेरते बल्कि वह लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण को पतनशीलता की ओर उन्मुख होते देख उसे उसकी संवैधानिक प्रक्रिया के अन्तर्गत घेरते हैं। धूमिल जनता और जनतंत्र दोनों से निराश हैं, नागार्जुन गाँधीवादी सोच को असत्यवादी धारणा में परिवर्तित देख हिंसा के फैलाव एवं व्याप्त भ्रष्टाचार से निराश हैं, मुक्तिबोध अभिव्यक्ति के खतरे उठाना नहीं चाहते, उन्हें डर है कि सजा दे दी जाएगी। वह अभिव्यक्ति के खतरे तभी उठाना चाहते हैं जब

जनता में जागृति आएगी किन्तु रघुवीर सहाय भ्रष्टाचार में लिप्त सभी सेनाओं से स्वयं लड़ना चाहते हैं-''किसी में ढाल सहित, किसी में निष्कवच होकर।''[52] कवि को यह भलि-भाँति ज्ञात है कि लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण के लिए जनता में तभी जागृति आ सकती है जब जनता को यह विश्वास हो जाए कि उनका प्रतिनिधि भारतीय लोकतंत्र की विसंगतियों के बीच संघर्ष कर उससे जूझने के लिए स्वयं तैयार है। और रघुवीर सहाय इस अर्थ में बहुसंख्यक जन के प्रतिनिधि कवि है। कवि ने राजनीति का अभिशाप जनता को झेलते हुए देखा है। कवि की वैचारिक दृष्टि एक मामूली आदमी को एक दर्जा नीचे रहते हुए देखती है। यह नीचे का दर्जा वही है जहाँ समाज असंगठित है। और इस समाज में रोज-रोज मरते हुए लोगों का एक झुण्ड हैं। रघुवीर सहाय का वैचारिक आयाम स्वामी विवेकानंद गाँधी, लोहिया, शमशेर बहादुर सिंह, मुक्तिबोध, पंत, निराला एवं वर्तमान अनुभवजन्य परिस्थितियों के प्रभाव से निर्मित हुआ है। इन सभी महापुरुषों के प्रति कवि ने कभी भी प्रतिबद्धता व्यक्त नहीं की। केवल इनसे एक दृष्टिकोण अर्जित कर वे उसे अपने ढंग से विकसित करने की कोशिश करते रहे। कवि केवल उसी दर्शन या विचारधारा को मानता है जो सामाजिक यथार्थ को मानवीय परिप्रेक्ष्य में देखता है। कवि यथार्थ की समझ यथास्थिति में नहीं मानता है बल्कि यथार्थ को सम्बंधों के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकित करता है। कवि रघुवीर सहाय जीवन के वर्तमान को गहराई से झाँककर देखते हैं जहाँ गरीब जनता तीन-तीन आने रोज में अपना जीवन-यापन करती है। लोकतांत्रिक मूल्यों के पतन का यह चर्मोत्कर्ष अपनी मानवीयता खोकर अमानवीयता की स्थिति में जा पहुँचा है। यह एक ऐसी स्थिति है जहाँ देश की जनता के लोकतांत्रिक मूल्यों का हनन शासक वर्ग के दमनकारी तंत्रों द्वारा प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों से किया जा रहा है। इस प्रकार रघुवीर सहाय की वैचारिक दृष्टि लोकतांत्रिक मूल्यों को स्थापित होते हुए नहीं बल्कि विस्थापित एवं विखण्डित होते हुए पाती है।

---

[52] रघुवीर सहाय, वक्तव्य:आत्महत्या के विरूद्ध, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1967

अध्याय-3

'आत्महत्या के विरूद्ध' और लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन

उप-अध्याय :

(क) 'हत्या' और 'आत्महत्या' में अन्तर

(ख) लोकतांत्रिक मूल्यों के संदर्भ में 'हत्या' और 'आत्महत्या'

(ग) 'आत्महत्या के विरूद्ध' में अभिव्यक्त लोकतांत्रिक मूल्य

(घ) निष्कर्ष

अध्याय-3

'आत्महत्या के विरूद्ध' और लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन

उप-अध्याय (क) : 'हत्या' और 'आत्महत्या' में अन्तर

'हत्या' शब्द अंग्रेजी के 'मर्डर' (Murder) का हिन्दी रूपान्तरण है। 'हत्या' एक स्त्रीलिंग शब्द है जिसका अर्थ-मार डालने की क्रिया, वध, खून है।

वहीं दूसरी तरफ 'आत्महत्या' शब्द अंग्रेजी के स्युसाइड् (Sucide) का हिन्दी रूपान्तरण है। 'स्युसाइड्' एक संज्ञावाचक शब्द है जिसका अर्थ-आत्मघात, जान देना या स्वयं अपने द्वारा अपनी 'हत्या' करना है।

'हत्या' और 'आत्महत्या' में सबसे बड़ा अंतर यही है कि 'हत्या' में क्रोध की भावना होती है, नफ़रत होती है, घृणा होती है एवं प्रतिशोध की भावना होती है। सामान्य अर्थों में कहें तो जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का योजनाबद्ध तरीके से या आक्रोश में आकर शारीरिक बल के जोर से, किसी तेज़ धार हथियार से क़त्ल करता है तो वह 'हत्या' होती है।

वहीं दूसरी तरफ जब कोई व्यक्ति अपनी सामान्य जिन्दगी में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ या मानसिक परेशानियाँ झेलता है और उनको झेलते हुए वह अपने आपको विक्षुब्ध अवस्था में पाता है तथा उन परिस्थितियों एवं मानसिक परेशानियों से निकलने का एकमात्र रास्ता उसे 'हत्या' ही नज़र आता है, ऐसी स्थिति में वह स्वयं अपने जीवन को समाप्त कर लेता है इसे 'आत्महत्या' कहा जाता है।

वर्तमान समाज में 'हत्या' करने वाले हत्यारे को किसी भी प्रकार की सज़ा नहीं दी जाती है बल्कि हत्यारा एक सुनियोजित ढंग से 'हत्या' करके भीड़ को ठेलता हुआ बेखौफ़ निकल जाता है। उसकी निडरता में राजाश्रय या सत्ताश्रय का महत्त्वपूर्ण योगदान है। आए दिन हत्यारे 'हत्या' करते ही रहते हैं। समाज मौन रहता है, खामोश रहता है

और हत्यारे 'हत्या' करके, समाज में एक आतंक फैलाकर निकल जाते हैं। बड़ी ही सफाई और बर्बरता के साथ हत्यारे 'हत्या' को अंजाम देते हैं। विडम्बनापूर्ण स्थिति में व्यक्ति को पता चलता है कि उसकी 'हत्या' होगी किन्तु वह फिर भी हत्यारे के विरूद्ध आवाज़ नहीं उठा सकता है और न ही कोई सामाजिक व्यक्ति उसका साथ देता है। समाज में जागरूकता नहीं है और न ही एकता है। मामूली और गरीब आदमी हर चौराहे, हर मोड़ पर मारा जा रहा है।

भ्रष्ट प्रशासनतंत्र एवं स्वातंत्र्योत्तर राजनीति ने पूरी की पूरी सामाजिक व्यवस्था में एक बिखराव, एक आतंक, विसंगति एवं विडम्बना और अपराधीकरण की भावना को ला दिया है।

रघुवीर सहाय की दृष्टि में 'हत्या' और 'आत्महत्या' में कोई विशिष्ट अंतर नहीं है। रघुवीर सहाय यह मानते हैं कि चाकू या तेज़ धार हथियार से की जाने वाली हत्या ही 'हत्या' नहीं होती, बल्कि परिस्थितियों के दबाव में व्यक्ति घुट-घुट कर मरने के लिए अभिशप्त है। कहा जाए तो यह भी एक प्रकार की 'हत्या' ही है जिसे 'आत्महत्या' का रूप दे दिया गया है। रघुवीर सहाय के लिए हत्या व्यक्ति के पहचान की हत्या है, सच्चाई, जिजीविषा, मौलिक अधिकारों एवं नैतिकता की हत्या है। यह व्यक्ति की अस्मिता एवं जीवन के विकास की भी 'हत्या' है।

यही 'हत्या' है और यही 'आत्महत्या' भी है। वर्तमान समय में 'हत्या' और 'आत्महत्या' में कोई अन्तर नहीं रह गया है। सत्ता वर्ग एक तरफ बड़े-बड़े बदमाशों, चोरों इत्यादि को प्रश्रय देकर उनके माध्यम से अपराधीकरण की प्रवृत्ति को निरन्तर बढ़ा रही है तथा स्वयं ऐसी परिस्थितियाँ भी निर्मित कर रही है,, जिससे गरीब, मज़दूर, सामान्य आदमी, स्त्री, बच्चे, बूढ़े सभी पीड़ा, हताशा, निराशा, दु:ख, मजबूरी, उदासी इत्यादि के बीच घुट-घुट कर मर रहे हैं और जिसका मरना मंत्री पहचान नहीं पा रहे हैं या पहचानना नहीं चाहते हैं।

आजादी के बाद सत्ता की समूची व्यवस्था- मंत्री, सचिव, डॉक्टर, पुलिस इत्यादि ने आदमी की छटपटाहट, उसकी बेचैनी को हत्या और आत्महत्या में तब्दील कर दिया है।

रघुवीर सहाय के ही शब्दों में निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य है-

''कितना अकेला हूँ मैं इस समाज में
जहाँ सदा मरता है एक और मतदाता।''[1]

उप-अध्याय (ख) : लोकतांत्रिक मूल्यों के संदर्भ में 'हत्या' और 'आत्महत्या'

'लोकतंत्र' को जनता के प्रतिनिधियों का शासन कहा जाता है। व्यक्ति की नियति वर्तमान समय में एक तरह से लोकतंत्र ही तय कर रहा है। मनुष्य की सारी इच्छाओं में से सबसे बड़ी इच्छा लोकतंत्र ही है। सर्वप्रथम लोकतंत्र की अभिकल्पना पाश्चात्य देशों में रखी गई थी तत्पश्चात् वह भारत में आई। लोकतंत्र आधुनिक युग की सबसे महत्त्वपूर्ण शासन प्रणाली है। इस शासन प्रणाली का जन्म यूनान और रोम की पुरातन गणराज्य पद्धति में हुआ था। भारत में भी प्राचीन काल में शिवि, कुणिन्द, मालव इत्यादि इसी तरह के गणराज्य थे जहाँ लोकतंत्र की एक प्रारम्भिक आधारशिला रखी गई थी। आधुनिक युग में लोकतंत्र के दो महत्त्वपूर्ण रूप मिलते हैं-(1) उदारवादी लोकतंत्र (2) समाजवादी लोकतंत्र।

उदारवादी लोकतंत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण देश आते हैं-इंग्लैंड, ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस व भारत इत्यादि। समाजवादी लोकतंत्र के अन्तर्गत निम्नलिखिते महत्त्वपूर्ण देश आते हैं-रूस, चीन, क्यूबा इत्यादि।

गुलामी की जंजीरों से मुक्ति की आकांक्षा ने लोकतंत्र की अभिकल्पना को एक विस्मयकारी वस्तु में तब्दील कर दिया था। अंग्रेजी शासन को खंडित कर देश की जनता ने जनता का शासन स्थापित किया। लोकतंत्र में जनभागीदारी को महत्व दिया गया। भारतीय जनता ने लोकतंत्र और आज़ादी को अलग-अलग नहीं बल्कि जोड़कर देखा। समाज की जरूरतों के अनुसार लोकतंत्र का निर्माण किया गया न कि लोकतंत्र के अनुसार समाज का निर्माण किया गया था। सामाजिक ढाँचे में बदलाव होने के लिए

---

1 रघुवीर सहाय, कोई एक और मतदाता : आत्महत्या के विरूद्ध, रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-1, संपादक : सुरेश शर्मा, पृ. 136, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2000

'मूल्य' बनाए गए। समता, स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, देश की एकता और अखण्डता, रोटी, कपड़ा, मकान इत्यादि प्राथमिक आवश्यकताएँ लोकतंत्र के 'मूल्य' हैं और यही लोकतंत्र का लक्ष्य भी है।

वर्तमान दौर यानी भूमंडलीकरण के दौर में दुनिया भर में नस्लवाद, धार्मिक-भेदभाव, आतंक और अन्य तरह की समस्याएँ निरन्तर बढ़ती ही गई हैं। इन समस्याओं ने जनतंत्र में जन के ऊपर संकट ला दिया है। दुनिया भर के मेहनतकश लोग आज अधिक से अधिक भ्रष्टाचार, आंतक, गरीबी, अशिक्षा, बेरोज़गारी इत्यादि से प्रभावित हो रहे हैं। समाज में पैदा हुई अस्थिरता ने आजादी की आधी सदी को और भी आधा कर दिया है। रिश्वतखोरी, नारी उत्पीड़न, हत्या, आत्महत्या, बलात्कार इत्यादि लोकतंत्र के लोकतांत्रिक मूल्य बनते जा रहे हैं। यह लोकतंत्र के लोकतांत्रिक मूल्य नहीं बल्कि लोकतंत्र के हननकारी मूल्य हैं। स्वतंत्रता, समानता, न्याय, बंधुत्व इत्यादि मूल्यों में इच्छाओं की संतुष्टि निहित है। और इच्छाओं की संतुष्टि को ही 'मूल्य' कहा गया है। जनता को यही मूल्य प्राप्त नहीं हो रहे हैं। व्यवस्था जनता को 'मूल्य' मुहैया न कराकर उसे भय, चोरी, संत्रास, कुण्ठा, घुटन, दर्द, अकुशलता इत्यादि मुहैया करा रही है। यह उपहार जनता के लिए, उसकी अस्मिता के लिए, जीवन के लिए घातक है। इन्हीं नीतियों के कारण समाज में, राज्य में, देश में एक अराजकता, असमानता, भेदभाव, बेरोजगारी, धार्मिक कट्टरता, संवेदनहीनता इत्यादि फैल चुके हैं। ऐसी स्थिति में 'हत्या' और 'आत्महत्या' जैसे अलोकतांत्रिक मूल्यों की संख्या में बढ़ोत्तरी होती जा रही है। हालांकि लोकतंत्र के कानून में इस बात का प्रावधान है कि यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की 'हत्या' करता है तो हत्यारे को उम्रकैद या फाँसी की सज़ा दी जा सकती है, किन्तु यह मात्र दिखावा ही है। हत्यारे को कानून का प्रश्रय प्राप्त होता है और वह सुनियोजित ढंग से अपने उद्देश्य के अनुसार व्यक्तियों की हत्या करता है।

पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत सामाजिक असहायता झेलते एक आम आदमी की यह विडम्बनापूर्ण स्थिति है। यहाँ न्याय जैसे महत्त्वपूर्ण लोकतांत्रिक मूल्य को धाराशाही कर दिया गया है। 'हत्या' के लिए जो दण्ड का प्रावधान है वह मात्र एक भयावह

त्रासदी है। जो व्यक्ति समाज में सर्वाधिक शोषित है, असहाय है, निरापराध है, सज़ा केवल उसी को ही दी जाती है। यह पूँजीवादी व्यवस्था या सत्ता द्वारा रूपांतरित एक ऐसा चरित्र है जहां सारे मानवीय रिश्ते अमानवीयता में आकर दम तोड़ देते हैं। वे अमानवीयता की दहलीज़ पर आकर दम तोड़ देते हैं। वर्तमान समय में व्यक्ति के जान की कोई कीमत नहीं रह गई है। बेफिक्र व्यक्ति ही फिक्र करने वाले व्यक्ति अर्थात् गरीब सामान्य जनता को मौत के नींद सुला दिया करते हैं।

आज साधारण व्यक्ति कितना असुरक्षित है। व्यक्ति की सुरक्षा का एकमात्र आधार कानून व्यवस्था है किन्तु ऐसी व्यवस्था पर व्यक्ति भरोसा नहीं कर सकता है। जो रक्षक है वही भक्षक बन बैठा है। भक्षक भी ऐसा कि जिसके मार से व्यक्ति मर तो सकता है किन्तु बच नहीं सकता। लोकतांत्रिक मूल्यों के संदर्भों में 'हत्या' के दण्ड के लिए जो प्रावधान बनाए गए हैं उस मानदण्ड पर यदि हम बात करें तो 'लोकतंत्र' सर्वाधिक सुरक्षा और विकास की संभावनाओं को जीवित रखने वाली संस्था है किन्तु उसके बनावटी रूप को देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि यह मात्र बदमाशों, चोरों, अपराधियों का एक अड्डा बन चुका है जिसका प्रयोग यह लोग समाज में भ्रष्टाचार और हत्या करने के लिए करते हैं और इनके सबसे बड़े नियामक-वकील, जज़ अर्थात् कानून है। भारत देश को वकीलों का स्वर्ग भी कहा गया है। ऐसा इसलिए कहा गया है क्योंकि यहां वकील किसी भी अपराधी को कानून के समक्ष ऐसा पेश करते हैं कि वह 'बाईज्ज़त बरी' कर दिया जाता है। अपराधी अपने आप बेशक मर जाए किन्तु कानून के समक्ष उसे मरने नहीं दिया जाता है। और इस प्रकार अपराधी जीवनपर्यन्त तक 'हत्या' को बढ़ावा देता ही रहता है।

वर्तमान दौर में कानून एवं प्रशासन शोषक वर्ग के हाथों की कठपुतली बनकर ही रह गए हैं। शासक वर्ग ने 'हत्या' को 'आत्महत्या' में तब्दील कर दिया है। व्यक्ति की चाकू या छुरे से घोंप कर ही हत्या नहीं की जा रही है बल्कि शासक वर्ग ने ऐसी परिस्थितियाँ निर्मित कर दी है जिससे व्यक्ति स्वयं घुट-घुट कर मर रहा है। व्यक्ति की अस्मिता को शासक वर्ग आहत करके उसे मरने पर मजबूर कर रहा है। पीड़ित को

न्याय नहीं, गरीब को छत नहीं, भूखे को रोटी नहीं, बेरोजगार को काम नहीं, मरीज़ को ईलाज़ नहीं, अनपढ़ को शिक्षा नहीं इत्यादि ऐसी ही परिस्थितयाँ सरकार निर्मित कर रही है जिनके दबाव में आकर व्यक्ति 'आत्महत्या' जैसा घिनौना कदम उठा लेता है। इस 'आत्महत्या' का अपराधी तो शासक वर्ग है, तो क्यों उसे सजा नहीं दी जाती है? अभिप्राय यह है कि शासक वर्ग को भी सज़ा मिलनी चाहिए किन्तु इसके लिए कानून में किसी भी प्रकार का कोई प्रावधान नहीं है।

व्यक्ति की असुरक्षा का यह भाव लोकतंत्र ने पैदा किया है। हत्या, आत्महत्या, पाशविकता, मानव-मूल्यहीनता की एक श्रृंखला लोकतंत्र विकसित कर रहा है। अपने को छलते हुए लोकतंत्र आज मृत नहीं बल्कि जीवित है। आज लोकतांत्रिक मूल्यों के संदर्भ में 'हत्या', 'आत्महत्या' जैसे शब्द निरर्थक हैं, सार्थक केवल उसी अर्थ में कहे जाते हैं जब वह शोषण पर आधारित हो। हत्यारे को 'हत्या' करने के बाद सज़ा न देना लोकतंत्र की गरिमा है।

उप-अध्याय (ग) : 'आत्महत्या के विरूद्ध' में अभिव्यक्त लोकतांत्रिक मूल्य

मनुष्य की आस्था, उसके विचार, उसकी लालसा, उसका सत्य, उसके अधिकार, उसका स्वत्व इत्यादि उससे छीन लिया जाए और वह रोज-रोज तिल-तिल कर मरता रहे तो यह हत्या है-आत्महत्या है। इसी के विरोध में कवि जनता का प्रतिनिधि बनकर लोकतंत्र की दहलीज़ पर आ खड़ा हुआ है। वह शासक वर्ग से लड़ना चाहता है, किसी में ढाल सहित और किसी में निश्कवच होकर। कवि ऐसी दुनिया में रह रहा है जहां पहले से ज्यादा भ्रष्टाचार, अलगाव, हिंसा, रिश्वतखोरी, आर्थिक असमानता तथा मूल्यों की पतनशीलता अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुँची हुई है। स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय, राष्ट्र की एकता, समाजवाद की अभिकल्पना, बिजली, स्वास्थ्य, शिक्षा इत्यादि लोकतांत्रिक मूल्य हैं जिनका व्यापक रूप से पतन वर्तमान भारत में हुआ है। कवि लोकतंत्र को अपराधों का एक संगठन मानता है जो अपने नागरिकों की हत्या बहुत ही बेरहमी से करता है। लोकतंत्र ने अपनी जनता को कुत्ते की मौत जैसी जिन्दगी दी और उसे वह कुत्ते की मौत की ही तरह मार रहा है।

कवि यह मानता है कि लोकतंत्र ने इन्सान की शानदार जिन्दगी को कुत्ते की जिन्दगी में तब्दील कर दिया है। कवि कहना चाहता है कि लोकतंत्र व्यक्ति को गरिमामय एवं शानदार जिन्दगी तो नहीं दे सका और जब व्यक्ति को मार रहा है तो कुत्ते की मौत की ही तरह शोषण करके मार रहा है। कवि के ही शब्दों में-''लोकतंत्र मोटे, बहुत मोटे तौर पर लोकतंत्र ने हमें इन्सान की शानदार जिन्दगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है।''[2]

अर्थात् लोकतंत्र का रूप एक हत्यारे जैसा हो गया है जिसको किसी भी प्रकार की सजा नहीं दी जा सकती है। लोकतांत्रिक राजनीति एवं भ्रष्ट प्रशासन तंत्र ने आम आदमी का अधिक से अधिक शोषण किया। जिसके परिणामस्वरूप उनकी पूरी एक पीढ़ी आहत हुई है। कवि समाज की विसंगतियों और विडम्बनाओं को बदलकर नई विकास की सम्भावनाओं की ओर व्यक्ति को लाना चाहता है। समाज को बदलने से पहले कवि भ्रष्ट नेता, भ्रष्ट प्रशासन तंत्र के बदलना चाहता है। वह हर एक व्यक्ति को जागरूक करना चाहता है कि स्वतंत्रता के बाद आई राजनीति ने व्यक्ति का अधिक से अधिक शोषण ही किया है। कवि विराट भीड़ों के समाज को बदलना चाहता है अर्थात् सामान्य व्यक्तियों का जो समाज है जिसमें व्यक्तियों का अधिक से अधिक अहित हुआ है। कवि रघुवीर सहाय के ही शब्दों में-''विराट भीड़ों के समाज को बदलने का आज सिर्फ़ एक साधन है वह है उस सत्ता का उपयोग जो समुदाय का एक-एक व्यक्ति अलग-अलग निर्णयों से कुछ हाथों में देता है।...मैं इस साधन के अधिक से अधिक सही इस्तेमाल के लिए लड़े बिना नहीं रह सकता।''[3]

कवि भ्रष्ट सत्ता को परिवर्तित करना चाहता है। सत्ता परिवर्तन केवल जनता के हाथों में है क्योंकि प्रजातंत्र जनता का शासन है। अत: जब तक जनता में जागृति नहीं आएगी तब तक उसका शोषण निरन्तर होता ही रहेगा। सामान्य व्यक्ति की दयनीय

---

2 रघुवीर सहाय, वक्तव्य : आत्महत्या के विरूद्ध, रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-1, संपादक-सुरेश शर्मा, पृ. 103, नई दिल्ली, संस्करण 2000

3 वही

स्थिति, लोकतंत्र की विडम्बनापूर्ण स्थिति, अवसरवाद, मतदाता की वेदना, नेताओं का नैतिक पतन, हत्या, आत्महत्या, लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन स्त्री, बूढ़े, बच्चे इत्यादि का वैचारिक विश्लेषण कवि ने इस संग्रह (आत्महत्या के विरूद्ध) में किया है।

'आत्महत्या के विरूद्ध' काव्य संग्रह 1967 ई. में प्रकाशित हुआ था तब उस समय देश को आज़ाद हुए 20 वर्ष हो गए थे। और इन बीस वर्षों में व्यक्ति की लालसा तिल-तिलकर मर रही थी। इन बीस वर्षों के दौरान सुविधासम्पन्न सत्ताधारी वर्ग ने साधारण जनता को केवल झूठे आश्वासन एवं झूठे नारों तक ही सीमित रखा और ऐसे वादे एवं नारे सुनते हुए पूरी एक पीढ़ी की पीढ़ी क्लेशमय जिन्दगी को व्यतीत करते हुए बीत गई-

''बीस वर्ष
खो गए भरमें उपदेश में
एक पूरी पीढ़ी जनमी पली पुसी क्लेश में
बेगानी हो गई अपने ही देश में।''[4]

यह कविता एक तरह से स्वातंत्र्योत्तर भारत का वह चित्र प्रस्तुत करती है जिसमें भारतीय समाज राजनीतिक जीवन से उपजी पाखण्ड, स्वार्थपरकता, हताशा, अन्तर्विरोध को झेलते हुए उनसे ऊबर नहीं पा रहा है। बल्कि उसी में टूट कर मर रहा है, बिखर रहा है। लोकतंत्र की सबसे बड़ी त्रासदी यही है कि वह लोक का रक्षक है जो भक्षक बन बैठा है।

आज़ादी मिलने के बाद हमारा देश और समाज पाखण्ड, मक्कारी, आडम्बर, स्वार्थपरकता इत्यादि से भर गया है। कवि ने देखा कि समाज 'हत्या', 'आत्महत्या' के दौर से गुजर रहा है। ऐसी स्थिति में जनता लोकतांत्रिक मूल्यों को समझने के लिए तैयार ही नहीं है। समाज एक मूल्यहीनता की स्थिति में पहुँच गया है। दोष जनता का उतना नहीं है जितना दोष लोकतांत्रिक राजनीति एवं नेताओं के भ्रष्ट शासन तंत्र का है।

---

4 रघुवीर सहाय, मेरा प्रतिनिधि : आत्महत्या के विरूद्ध, रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-I, संपादक-सुरेश शर्मा, पृ. 103, नई दिल्ली, संस्करण 2000

इस तंत्र ने पूरे हिन्दुस्तान को एक आत्मघातिनी स्थिति में ला दिया है। कवि का आन्तरिक मन इसी भ्रष्टाचारी व्यवस्था के प्रति विद्रोह चाहता है, परिवर्तन चाहता है।

कवि यह मानता है कि व्यवस्था ने व्यक्ति को अकाल मृत्यु के मुँह में ढकेल दिया है और वह निरन्तर ढकेलता ही जा रहा है। किसी भी व्यक्ति को, किसी भी प्रकार से मृत्यु देना हत्यारे को अपराध मुक्त नहीं करता। कवि मृत्यु के विरोध में है। कवि की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-''लेखक के लिए जरूरी है, वह अकाल मृत्यु से जिसको बचा सकता हो, बचाए। उसे हर अकाल मृत्यु के समय उपस्थित रहना है। मृत्यु को लेकर यह दृष्टि सही, सच्चे अर्थ में मानवीय और सृजनात्मक है कि मृत्यु को स्वीकार करना ही चाहिए, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हत्या को स्वीकार करना चाहिए।''[5]

ऐसा कहा जाता है कि रघुवीर सहाय लोहियावादी विचारधारा के समर्थक थे किन्तु वह समर्थक होते हुए भी राजनीतिक पार्टी के गुलाम नहीं थे। कवि के ही शब्दों में-''मैं राजनीति के अर्थ के बारे में बहुत साफ रहना चाहता हूँ। अगर आपका बार-बार यह अर्थ है कि दलों की राजनीति या सत्ता की राजनीति, तो मेरा वह अर्थ नहीं है।''[6]

'आत्महत्या के विरूद्ध' काव्य संग्रह की कविताओं में जनता और लोकतंत्र के मध्य बन रहे तनाव और यथार्थवादी रिश्ते को कवि ने विचारात्मक एवं संवेदनात्मक स्तर पर उठाया है।

यह काव्य संग्रह मोहभंग अर्थात् भारत-चीन सीमा संघर्ष के 5 वर्ष बाद प्रकाशित हुआ था। अत: यह काव्य अपने आप में घुटन, यातना, मोहभंग, मूल्यों का पतन, लगाव और अलगाव लिए हुए था।

रघुवीर सहाय वर्तमान दौर की विडम्बनापूर्ण स्थिति से गुजर रहे थे। अत: एक भोगा हुआ यथार्थ उनकी कविताओं में अभिव्यक्ति पाता है।

---

5 रघुवीर सहाय, मृत्युकामना से विरत करने का दायित्व, रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-5, संपादक : सुरेश शर्मा, पृ. 320, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2000

6 रघुवीर सहाय, यथार्थ यथास्थिति नहीं, सम्पादक: सुरेश शर्मा, पृ. 90, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1994

कवि ऐसी स्थिति में अपने आपको अकेला पाता है किन्तु यह अकेलापन अज्ञेय, निर्मलवर्मा, धर्मवीर भारती इत्यादि कवियों के अकेलापन जैसा नहीं है, बलिक यह सार्थक सोच का अकेलापन है। यह एक असली दुनिया का अकेलापन है जिसमें नेहरू युग का भ्रम टूट कर बिखर गया। और इस दुनिया में रघुवीर सहाय अपने आपको बेगाना होते हुए पाते हैं। कवि को यह असली दुनिया नकली लगने लगती है क्योंकि परिस्थितियाँ शासक वर्ग ने इस प्रकार निर्मित कर दी है कि कवि इस दुनिया से न तो लगाव साध पा रहा है और न ही अलगाव। एक साहित्यकार के रूप में रघुवीर सहाय खास ढंग से हिस्सा लेते हैं और उसी खास ढंग से वह उस दुनिया से अलग हो जाते हैं। बहरहाल फिर भी वह साहित्य के सहारे प्रतिरोध के स्वर को दर्ज़ कराना चाहते हैं। रघुवीर सहाय के ही शब्दों में- ''क्या आज हम यानी साहित्यकार अपनी खास दुनिया से बेगाने नहीं होते जा रहे हैं जिसमें रहकर, हम दुनिया में एक खास ढंग से हिस्सा लेते है और फिर एक खास ढंग से ही उससे अलग हो जाते हैं।''[7]

रघुवीर सहाय विचारात्मक स्तर पर आधुनिक समाज में लोकतांत्रिक मूल्यों समता, स्वतंत्रता, बंधुता इत्यादि के संरक्षण के लिए संघर्षरत थे।

रघुवीर सहाय ने निम्न पंक्तियों के माध्यम से दर्शाया है कि आज़ादी के बाद लोकतांत्रिक मूल्यों का परिवर्तन निरन्तर होता ही गया है। तथा कोई गुणात्मक परिवर्तन आज़ाद भारत के समाज में देखने को नहीं मिलता-

''बाँध में दरार
पाखण्ड वक्तव्य में
घटतौल न्याय में
मिलावट दवाई में
अहंकार भाषण में
आचार में खोट

---

7 रघुवीर सहाय, वक्तव्य : 'आत्महत्या के विरूद्ध', रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-1, संपादक : सुरेश शर्मा, पृ. 103, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2000

हर हफ्ते मैंने विरोध किया

सचमुच,

स्वाधीन हो जाने का इतना भय

एक दास जाति में।'[8]

लोकतंत्र में व्यक्ति की आज़ादी नाम मात्र की आज़ादी है। कानून के समक्ष सभी लोग बराबर हैं किन्तु फिर भी समाज में कोई एक बड़ा वर्ग है जो सुख सुविधाओं से सम्पन्न है वहीं दूसरी तरफ एक ऐसा वर्ग भी है जो गरीबी और जहालत भरी जिन्दगी से लाचार है, और ऐसे लोगों के लिए कानून या सरकार कोई उपाय नहीं कर रही है। रघुवीर सहाय द्वारा रचित निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य है जिसमें एक स्त्री की दयनीय दशा का मार्मिक चित्रण है-

''बच्चा गोद में लिए

चलती बस में

चढ़ती स्त्री

और मुझमें कुछ दूर तक घिसटता जाता हुआ।'[9]

भारतीय समाज में स्त्री की ऐसी दयनीय दशा है जहाँ बस भी उस लाचार स्त्री के लिए नहीं रूकती जिसके गोद में बच्चा है। बस का न रूकना ही स्त्री की उपेक्षा करना है। स्त्री के अधिकारों की उपेक्षा करना है। स्त्री के लोकतांत्रिक मूल्यों की उपेक्षा करना है। कानून के समक्ष यहां समानता जैसे लोकतांत्रिक मूल्य का भाव नहीं है बल्कि अलोकतांत्रिक मूल्य असमानता का भाव है। कुछ दूर तक घिसटता जाता हुआ अर्थात् स्त्री शोषण की परम्परा का पूरा एक चित्र उभरकर सामने आ जाता है।

भारतीय लोकतंत्र ने व्यक्ति को स्वतंत्रता नामक महत्त्वपूर्ण लोकतांत्रिक मूल्य

---

8 रघुवीर सहाय, एक अधेड़ भारतीय आत्मा : 'आत्महत्या के विरूद्ध', रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-1, संपादक : सुरेश शर्मा, पृ. 138, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2000

9 रघुवीर सहाय, चढ़ती स्त्री : आत्महत्या के विरूद्ध, रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-1, संपादक : सुरेश शर्मा, पृ. 107, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2000

प्रदान किया किन्तु वर्तमान भारत में व्यक्ति को वास्तविक स्वतंत्रता की प्राप्ति नहीं हुई। पहले भी वह दूसरे के अर्थात् अंग्रेजी शासन के अधीन था और अब भी वह देशीय शासन के अधीन है। वह अंग्रेजी शासन से तो मुक्त हो गया किन्तु देशीय शासनतंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार से मुक्त नहीं हो पा रहा है। वह स्वाधीन व्यक्ति को देखकर चौंक जाता है, अपने ही देश में। कवि रघुवीर सहाय के शब्दों में-

''स्वाधीन इस देश में चौंकते हैं लोग

एक स्वाधीन व्यक्ति से।''[10]

स्वयं लेखक की आज़ादी की जनता की आज़ादी से जुड़ी हुई है। अतः लेखक यदि जनता को स्वतंत्र भारत में पराधीन पाता है तो उसे लगता है कि वह स्वयं पराधीन है। मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में-''लोकतंत्र में लेखक को आज़ादी का सवाल जनता की आज़ादी के सवाल से अलग नहीं है।''[11]

कवि स्वतंत्रता जैसे लोकतांत्रिक मूल्य को बचाने के लिए संघर्ष पैदा करता है। लोकतांत्रिक मूल्यों को जनता तक पहुँचने ही नहीं दिया जा रहा है। लोकतांत्रिक मूल्यों का हनन करने के लिए सरकार के लड़के अर्थात् शासन व्यवस्था एवं उसका पूरा का पूरा तंत्र शोषितों एवं आम जनता को सज़ा देने के लिए तैयार है। कवि के ही शब्दों में-

''सिंहासन ऊँचा है सभाध्यक्ष छोटा है

अगणित पिताओं के

एक परिवार के

मुँह बाये बैठे हैं लड़के सरकार के।''[12]

---

10 रघुवीर सहाय, स्वाधीन व्यक्ति : आत्महत्या के विरूद्ध, रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-1, संपादक : सुरेश शर्मा, पृ. 108, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2000

11 मैनेजर पाण्डेय, शब्द और कर्म : लेखक और लोकतंत्र, पृ. 129, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 1997

12 रघुवीर सहाय, मेरा प्रतिनिधि : 'आत्महत्या के विरूद्ध', रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-1, संपादक : सुरेश शर्मा, पृ. 109, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2000

कवि ठीक इसी प्रकार लोकतंत्र की उस विडम्बनापूर्ण एवं भयावह स्थिति का चित्रण करता है जहाँ ऐसा कोई भी योग्य प्रतिनिधि नहीं है जिस पर एक गरीब या आम आदमी भरोसा कर सके-

''राष्ट्रगीत में भला कौन वह
भारत-भाग्य विधाता है
फटा सुथन्ना पहने जिसका
गुण हरचरना गाता है।''[13]

समाजवाद भी लोकतांत्रिक मूल्य की एक परिकल्पना है। कवि भीड़ में 'मैकू और मैं' को खोजता है। अर्थात् सामान्य जनता के बीच आ खड़ा होता है ताकि वह भ्रष्ट नेताओं के विरूद्ध प्रतिरोध जागृत कर सके। वह (कवि) झूठे आश्वासनों की ताक में नहीं बैठा है, जहाँ मन्त्री मरते हुए मनुष्यों को मारने के लिए दोबारा मंत्री बनना चाहता है। कवि ऐसे ही वर्तमान समाज में लोकतांत्रिक समाज का पतन पाता है। इस तथ्य को निम्न पंक्तियों में कवि ने दर्शाया है-

''जब समाजवादी दल खोज रहा था लड़के
मन्त्री बनने के लिए अगली सरकार में
मैं खोज रहा था भीड़ में रामलाल
वही मिल जाए अगर मैकू न मिले तो।''[14]

रघुवीर सहाय ने लोकतांत्रिक मूल्यों का निरन्तर पतन होते हुए पाया। ऐसी स्थिति में कवि का विक्षुब्ध मन आक्रोश से भर गया और कवि ने यह अनुभव किया कि अब भूमिका देने का समय नहीं है बल्कि अब समय आ गया है कि वह भ्रष्टाचार फैलाने वाले सब सेनाओं से एक साथ लड़े। जनता, जिस पर कवि का क्रोध बार-बार न्यौछावर होता है क्योंकि जनता ही आज़ाद भारत में अपने जनतांत्रिक मूल्यों को समझने के लिए

---

13 रघुवीर सहाय, अधिनायक : 'आत्महत्या के विरूद्ध', रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-1, संपादक : सुरेश शर्मा, पृ. 111, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2000

14 रघुवीर सहाय, भीड़ में मैकू और मैं : 'आत्महत्या के विरूद्ध', रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-1, संपादक : सुरेश शर्मा, पृ. 111, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2000

तैयार नहीं है। कवि को अनुभव होता है कि देश के शोषित लोगों ने बहुत ही अत्याचार सहे हैं अब उन अत्याचारों के विरूद्ध एकजुट होकर संघर्ष करना है। कवि कहता है कि अब बैठकर पछताने का समय नहीं है बल्कि एक वैचारिक प्राणी बन कर देशीय भ्रष्ट शासन तंत्र के खिलाफ मुक्ति की आकांक्षा को प्रबल करना है। कवि निम्न पंक्तियों में इस बात की स्वीकृति देता है-

''समय आ गया है

जब तब कहता है सम्पादकीय

हर बरस दस बरस पहले मैं कह चुका होता हूँ

कि समय आ गया है।''[15]

ठीक इसी तरह कवि चाहता है कि लोकतांत्रिक मूल्यों को यदि बचाना है तो मन को एक बार सच्ची तरह से टूटना होगा, अच्छी तरह से टूटना होगा ताकि कोई कायरता मन में न रह जाए। जनता जब अपनी मन की कायरता को त्याग देगी तो वह नेताओं की स्वार्थलिप्सा के विरूद्ध अच्छी तरह से विद्रोह कर सकेगी। कवि के शब्दों में-

''कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूँगा

न टूटे न टूटे तिलिस्म सत्ता का मेरे अन्दर एक कायर टूटेगा टूट

मेरे मन टूट एक बार सही तरह

अच्छी तरह टूट मत झूठमूठ ऊब मत रूठ।''[16]

इसी प्रकार रघुवीर सहाय की 'आत्महत्या के विरूद्ध' काव्य संग्रह में ऐसी अनेक कविताएँ हैं जिनमें स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय इत्यादि लोकतांत्रिक मूल्य अपने पतन के कगार पर खड़े हैं। वर्तमान क्षण, लोकतंत्र का अंतिम क्षण है और इस अंतिम क्षण की प्रक्रिया में आम आदमी, एक आम मतदाता का जीवन भी अकाल मृत्यु

---

15 रघुवीर सहाय, आत्महत्या के विरूद्ध : 'आत्महत्या के विरूद्ध', रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-1, संपादक : सुरेश शर्मा, पृ. 143, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2000

16 वही, पृ. 144

के अंतिम क्षण में पहुँच चुका है। 'आत्महत्या के विरूद्ध' काव्य संग्रह में संकलित उनकी अन्य कविताएँ जैसे-फिल्म के बाद चीख, खब्ती औरत, नयी हँसी कोई, एक और मतदाता, नेता क्षमा करें, लाखों का दर्द, रचता वृक्ष, मूर्ख, लोकतंत्रीय मृत्यु, प्रार्थनाघर, मेरा मींजा दिल, भाषण, आत्महत्या के विरूद्ध इत्यादि इसी प्रकार की 37 कविताएँ तथा एक स्वरलिपि है जिनमें लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन दर्शाया गया है। कवि इन सभी कविताओं के माध्यम से लोकतंत्र के तंत्र को भेद कर संकल्प का नहीं विकल्प का मार्ग प्रशस्त करता है। और स्वयं रघुवीर सहाय लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण के लिए संघर्षरत रहते हैं। साहित्य के मोर्चे से 'हत्या' और 'आत्महत्या' के विरूद्ध विद्रोह के लिए एक ज़मीनी सतह तैयार करते हैं।

उप-अध्याय (घ) : निष्कर्ष

'आत्हत्या के विरूद्ध' कविताओं का परिवेश यथार्थवादी परिवेश है। यह काल्पनिक कम, यथार्थ ज्यादा है। कवि कविता के माध्यम से ही पूरी दुनिया को देख रहा है, किन्तु इस दुनिया से न तो वह लगाव साध पा रहा है और न ही अलगाव। इस संग्रह में कुल 37 कविताएँ और एक स्वरलिपि है। इस संग्रह में स्त्री, प्रेम, प्रकृति-चित्रण, भ्रष्टाचार, पद लोलुपता इत्यादि का चित्रण कवि ने विचारात्मक स्तर पर किया है। कवि ने संसद, व्यक्ति और संस्था का एक त्रिकोण सा निर्मित कर दिया है। भाई-भतीजावाद, समाजवादी ढोंग, छटपटाहट इत्यादि के माध्यम से राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिदृश्य दृष्टिगत होता है। 'हत्या' और 'आत्महत्या' जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। यह हत्या मानव की हत्या है, उसके संस्कारों की हत्या है। सत्य, न्याय, जिलीविषा की हत्या है। स्वतंत्र भारत में भ्रष्टाचार के कारण हत्या एवं परिस्थितियों के दबाव के कारण आत्महत्या का महौल निरन्तर बनता ही जा रहा है। व्यक्ति घुट-घुट कर तिल-तिल कर मरने के लिए अभिशप्त है। कवि व्यक्ति को आत्महत्या की स्थिति में नहीं जाने देना चाहता है। इसी के विरोध में वह आकर खड़ा हो जाता है। कवि का मानना है कि व्यक्ति कुछ भी करे किन्तु आत्महत्या न करे। आत्महत्या की जगह वह आत्मसंघर्ष, आत्ममनन तथा बाह्य स्तर पर प्रतिरोध करे-सत्ता के प्रति।

अध्याय-4

लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन और काव्यभाषा का नया साँचा

उप-अध्याय :

(क) सामान्य भाषा और काव्य-भाषा

(ख) रघुवीर सहाय की काव्य-भाषा विषयक मान्यताएँ

(ग) काव्य-भाषा का नया साँचा और लोकतांत्रिक मूल्य

(घ) निष्कर्ष

अध्याय-4

लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन और काव्यभाषा का नया साँचा

उप-अध्याय (क) : सामान्य भाषा और काव्य-भाषा

भाषा शब्द संस्कृत की √भाष् धातु से निर्मित हुई है जिसका अर्थ है-बोलना या कहना। वाक् का विकसित रूप भाषा है। वाक् भाषा की जननी है किन्तु अगर व्यापक अर्थ में देखें तो वाक् और भाषा में अन्तर होता है। वाक् 'ध्वनि' होती है जबकि भाषा अर्थ को अभिव्यक्त करती है। वाक् में स्थूलता होती है जबकि भाषा में सूक्ष्मता होती है। वेदों एवं वेदान्तर ग्रंथों में वाक् को ही महत्व दिया गया और आगे चलकर यही वाक् कवि या रचनाकार द्वारा भाषा के रूप में परिवर्तित हुए। किसी भी सभ्यता के विकास की उत्कृष्ट उपलब्धि भाषा है। भाषा के निर्माण में ध्वनियां महत्त्वपूर्ण योगदान देती हैं। नन्दकिशोर नवल के अनुसार- ''ध्वनियों का जब अर्थ से संयोग होता है तब शब्दों का निर्माण होता है। शब्दों के मिलने से वाक्य बनते हैं और वाक्यों से भाषा।''[1]

ध्वनियाँ अर्थ से संयोग करके शब्दों का निर्माण करती हैं और शबद वाक्यों को बनाते हैं और वाक्यों से भाषा की निर्मिति होती है। किसी भी सभ्यता के विकास की उत्कृष्ट उपलब्धि भाषा अपने आप में अनेक विकासशील सम्भावनाएँ लिए हुए होती है। भाषा के माध्यम से ही किसी भी जाति का सारा ज्ञान विकसित होता है। सामान्य जीवन से जुड़ी हुई आवश्यकताओं के अनुरूप मौखिक अभिव्यक्ति 'सामान्य भाषा' है। सामान्य भाषा प्रायः एकार्थ को लेकर चलती है। भाषा के एकार्थ को ग्रहणकर्ता भी उसी अर्थ में ग्रहण करता है जिसका सम्प्रेषण हुआ है। वहीं दूसरी तरफ काव्य भाषा प्रायः अनिवार्यता को लेकर चलती है। उसमें लयात्मकता होती है।

डॉ. भगीरथ मिश्र के अनुसार-''भाषा का संवेदनात्मक और लयात्मक रूप ही

---

1 नन्दकिशोर नवल, कविता की मुक्ति, पृ. 34, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-1980

काव्य-भाषा बनाता है। काव्य भाषा में लय होना अनिवार्य है।"[2]

काव्य भाषा में रूढ़ हुए शब्दों को कवि या कलाकार या रचनाकार अपने कल्पनालोक के जरिए कुछ उसमें जोड़कर सीमित अर्थ की परिधि (गोलघेरा) से बाहर लाता है। नए संदर्भों के अनुसार कवि रूढ़ हुए शब्दों को नए अर्थ देता है। कवि या रचनाकार की भाषा जीवंत होती है। वह अर्थात् कवि की भाषा रूढ़ियों को लेकर बहुत कम चलती है।

सामान्य भाषा में जहाँ अभिधा शब्दशक्ति सीधे-सीधे मुखरित होती है, वहाँ काव्य भाषा में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना में से अधिकतर लक्षणा और व्यंजना की ही प्रधानता रहती है। सामान्य भाषा सम्प्रेषण का माध्यम होती है किन्तु काव्य भाषा मात्र सम्प्रेषण का माध्यम न होकर, विचारात्मक, भावात्मक, रस, छन्द अलंकार इत्यादि से युक्त होती है। सामान्य भाषा को एक आम आदमी भी बोलता है, समझता है किन्तु काव्य भाषा को समझने और बोलने के लिए एक बौद्धिक, भावात्मक एवं रसात्मक धरातल चाहिए। एक अनपढ़ आदमी सामान्य भाषा की तरह काव्य भाषा को ठीक तरह से न तो बोल सकता है और न ही समझ सकता है। सामान्य भाषा जीवन के कर्म पक्ष को उद्घाटित करती है, मर्म पक्ष के उद्घाटन में उसका योगदान नाम मात्र का ही होता है। सामान्य भाषा व्यावहारिक होती है जबकि काव्य भाषा साहित्यिक होती है।

वस्तुतः काव्य भाषा का अपना एक दायरा और स्तर होता है। उसकी अपनी एक संस्कृति होती है, समाज होता है। वह विकसित परिमार्जित एवं विशिष्ट पदावली से युक्त सामान्य भाषा एवं काव्य भाषा में पर्याप्त अन्तर होते हुए भी यह कहा जा सकता है कि सामान्य भाषा से ही काव्य भाषा की निर्मिति होती है। दोनों एक दूसरे के विरोधी न होकर परस्पर सहयोगी हैं। कवि की काव्य-भाषा का निर्माण परिवेश से होता है आवश्यकता के अनुसार भाषा परिवर्तनशील हुआ करती है। काव्य भाषा का जो स्वरूप वैदिक काल में था वह धीरे-धीरे वर्तमान युग तक आते-आते परिमार्जित एवं विशिष्ट विकसित होता गया और अब आधुनिक काल में वह बिल्कुल एक नए रूप में साहित्य

---

2 डॉ. भगीरथ मिश्र, भाषा-विवेचन, पृ. 103, साहित्य भवन, इलाहाबाद, संस्करण-1990

जगत् में उपस्थित है। अगर हम पूर्व में जाएँ तो वीरकाव्यों में कवियों ने सामान्य भाषा को काव्यभाषा बनाने के लिए नादसौन्दर्य-शिल्प, लय, तुक, छन्द इत्यादि का सहारा लिया था। इस बात की पुष्टि अनेक वीरकाव्यों को देखने से हो जाती है। विद्यापति जैसे महत्त्वपूर्ण मैथिल कवि ने भी सामान्य भाषा को काव्य भाषा बनाने के लिए प्रार्थना, नचारी, विशेषण, अभिसार, मान, विरह इत्यादि का सहारा लिया।

भक्तिकाल में सूरदास ने भी सामान्य भाषा को काव्य भाषा बनाने के लिए मुहावरों, लोकोक्तियों, वात्सल्य संगीतात्मकता, वाक्य-वक्रता इत्यादि का सहारा लिया। आधुनिक काल में भारतेन्दु ने सामान्य भाषा को काव्य-भाषा बनाने के लिए ब्रजभाषा, खड़ी बोली, उर्दू, पंजाबी, बंगला, संस्कृत, शब्द-चयन, पद शैली इत्यादि का सहारा लिया। भारतेन्दुयुग प्रयोग और संस्कार एवं बंधन की दासताँ से मुक्ति का काल था। इसीलिए भारतेन्दु की भाषा विचारात्मक एवं गम्भीर थी। उनमें एक आक्रोश छिपा था, उनकी भाषा जागृति की सूचक थी। द्विवेदी युग की भाषा सुधारवादी थी। छायावाद की भाषा विचारों और दर्शनों से लदी हुई थी। महत्त्वपूर्ण बदलाव उस समय आता है जब नई कविता अस्तित्व में आती है। नई कविता ने भाषा के परम्परागत रूप को तोड़ा। और सन् 1960 के बाद की भाषा मानव की नियति और विडम्बना को सीधे अभिव्यक्त करती है। रघुवीर सहाय की निम्न पंक्तियाँ आधुनिक हिन्दी काव्य भाषा के विकास-क्रम को भलि-भाँति रेखांकित करती हैं-

"कितना अच्छा था छायावादी
एक दुख लेकर वह एक गान देता था
कितना कुशल था प्रगतिवादी
हर दुख का कारण वह पहचान लेता था।"[3]

---

[3] रघुवीर सहाय, रघुवीर सहाय प्रतिनिधि कविताएँ : सम्पादक-सुरेश शर्मा, पृ. 55, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2006

उप-अध्याय (ख) : रघुवीर सहाय की काव्य-भाषा विषयक मान्यताएँ-

रघुवीर सहाय भाषा को अलंकार युक्त एवं कृत्रिम नहीं बनाना चाहते थे। वह भाषा को सहज़ भाषा के निकट लाना चाहते थे। और यह तभी संभव हो सकता था जब 'वास्तविकताएँ' विचारवस्तु बनकर दिल और दिमाग में उतरकर एक गहरी अनुभूति जागृत करती हों। रघुवीर सहाय काव्य-भाषा को बोलचाल की भाषा के निकट क्यों लाना चाहते थे? क्योंकि बोलचाल की भाषा में आत्मीयता होती है, सहज और प्रभावी प्रयोग होते हैं। सहज भाषा ओढ़ि हुई, बनावटी या थोपी गई नहीं लगती और वह अधिक विश्वसनीय एवं प्रमाणिक होती है। बोलचाल की भाषा के निकट लाने की कोशिश रही है, मगर उसमें भी कहीं-कहीं भाषा की फिजूलखर्ची करनी पड़ी। बहरहाल इस तरह की कोशिशें विचार वस्तु के दिल और दिमाग में उतरने के तरीके पर निर्भर रहेंगी और जरूरी है कि हम अपनी अनुभूति को उसी प्रकार सुधारें, ताकि कविता भी वैसी ही जानदार हो सके जैसी कि वे वास्तविकताएँ, जिनसे हम कविता की प्रेरणा लेते हैं।''[4]

रघुवीर सहाय के लिए भाषा मात्र माध्यम नहीं है वह माध्यम की परिधि से बाहर एक 'समझ' है, अनुभव है। रघुवीर सहाय यह मानते हैं कि भाषा के अनेक प्रकार होते हैं जैसे-मौखिक भाषा, लिखित भाषा, चिन्हित भाषा इत्यादि। और भाषा के अनेक प्रकारों पर व्यावसायिक एवं राजनैतिक कब्ज़ा निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है जिसने भाषा की रचनात्मकता को अनेक प्रकार से बिगाड़ा है, उसे कुंठित किया है। भाषा की रचनात्कता के विरूद्ध इतना बड़ा अभियान आज़ादी के बाद व्यापार प्रतिष्ठान एवं राजनीति ने चलाया है। इस व्यापारिकता ने प्रत्येक मनुष्य को एक वस्तु में तब्दील कर दिया है। और इस व्यापारिकता एवं राजनीति ने 'प्रतिभा' को लगातार विकृत एवं कुंठित किया है। उसे पथभ्रष्ट किया है। स्वयं रघुवीर सहाय के ही शब्दों में-''भाषा के अनेक

---

4 रघुवीर सहाय, वक्तव्य : दूसरा सप्तक, सम्पादक : अज्ञेय, पृ. 138, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला पेपरबैक संस्करण-1999

प्रकारों पर व्यावसायिक और राजनैतिक कब्जे ने भाषा की रचनात्मकता को अनेक प्रकार से विकृत और कुंठित किया है।''[5]

रघुवीर सहाय काव्यभाषा को समाज में खोजते हैं। काव्यभाषा समाजभाषा की जीवंत अभिव्यक्ति है। काव्यभाषा यदि समाज से जीवन लेती है तो बदले में उसे विकास की नई जीवन सम्भावनाएं देती भी है। बहरहाल काव्य भाषा और सामान्य भाषा या समाजभाषा में कोई तात्त्विक अन्तरे नहीं है बल्कि स्तर भेद का अन्तर महत्त्वपूर्ण है। दोनों एक दूसरे पर निर्भर है। कवि रघुवीर सहाय काव्यभाषा को एक भाषाशास्त्री की तरह से नहीं देखते हैं। वह काव्यभाषा को भाषाशास्त्र के अनुसार प्रयोग नहीं करते हैं बल्कि काव्यभाषा के लिए समाजभाषा से शब्द ग्रहण करते हैं। कवि एक आलोचक की तरह से भी भाषा को नहीं देखना चाहता है क्योंकि कवि का मानना है कि आलोचक बनकर भाषा को देखना उसकी सहजता को नहीं बल्कि शिल्पावस्था को ही देखना है।

कवि के ही शब्दों में-''मैं काव्यभाषा को न तो भाषाशास्त्री की तरह से देख सकता हूँ और न आलोचक की तरह से।''[6]

रघुवीर सहाय कविता में जीवंत अभिव्यक्ति देना चाहते हैं। मृत वस्तुओं या व्यक्तियों के लिए उनकी कविताओं में जगह नहीं है। वह उपमानों की अभिव्यक्ति भी अपने काव्यों में नहीं देना चाहते हैं। ठीक इसी प्रकार प्रतीकों के प्रयोग का भी वह निषेध करते हैं।

उपमानों या प्रतीकों का प्रयोग एक अमूर्त इकाई है और यह अमूर्त ईकाई जीवन के विकास, उसके आदर्श, सम्भावनाओं में किसी भी प्रकार का कोई महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं देते हैं। कवि को इनका प्रयोग दयनीय बना देता है। स्वयं इस बात की स्वीकृति कवि निम्न पंक्तियों से देता है-''प्रतीक का इस्तेमाल मैं नहीं करना चाहता हूं। मैं सख्त खिलाफ हूँ उसके, क्योंकि वह मुझे दयनीय बना देता है।''[7]

---

5 रघुवीर सहाय, निवेदन : कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ, पृ.-7, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण--1989

6 रघुवीर सहाय, यथार्थ यथास्थिति नहीं, सम्पादक-डॉ. सुरेश शर्मा, पृ. 148, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1994

7 रघुवीर सहाय, लिखने का कारण, पृ. 167-168, राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1978

उप-अध्याय (ग) : काव्यभाषा का नया साँचा और लोकतांत्रिक मूल्य

'सांचा' का अर्थ होता है ढाँचा (फ्रेम)। फ्रेम में कच्चे मेटेरियल (पदार्थ) को भरकर उसे एक नई शक्ल में ढालना ढाँचे (साँचे) का महत्त्वपूर्ण कार्य होता है।

रघुवीर सहाय ने काव्य भाषा एक नया साँचा निर्मित किया। वह कविता के पुराने ढाँचे में अपनी कविता को फिट नहीं होने देना चाहते हैं। वह किसी फ्रेम में गीली चीज़ भरकर वस्तु को खास शक्ल की चीज़ में ढालना नहीं चाहते हैं। वह वस्तु को वस्तु रहने से वंचित करते हैं। उनके लिए वस्तु मात्र वस्तु नहीं है बल्कि वह कविता का विषय बन जाती है। उन्होंने कविता के लिए हमेशा नए विषयों को तलाशा है। पारम्परिक ढर्रे पर आकर उन्होंने कविता नहीं की। उन्होंने सर्वदा नए विषय क्षेत्रों की तलाश कर उसे नई भाषा में रचा है। उन्होंने (रघुवीर सहाय) ऐसे स्थलों पर विषय वस्तु देखी है जहाँ दूसरे कवियों के लिए मात्र वह स्थान एक स्थान है और वस्तु मात्र वस्तु है। वस्तु के अतिरिक्त वहाँ और कुछ नहीं है।

रघुवीर सहाय ने काव्य-भाषा का जो नया साँचा निर्मित किया उसमें बिम्ब, प्रतीक अर्थात् काव्यभाषा के उपकरणों का इस्तेमाल कम है। और यह नया साँचा आम आदमी और उसके लोकतंत्र से निर्मित हुआ है। लोकतंत्र की ऐसी मुखरित प्रखर अभिव्यक्ति अन्य कवियों में नहीं मिलती है।

रघुवीर सहाय काव्य-भाषा का जो नया साँचा (खाका) निर्मित करते हैं, उसमें वह लोकतांत्रिक मूल्यों के पतन की अभिव्यक्ति पुरजोर शब्दों में करते हैं। स्वतंत्रता, समानता, शिक्षा, चिकित्सा, व्यापार, परिवहन, जल, बिजली प्रबन्ध इत्यादि प्राथमिक वस्तुओं एवं सेवाओं की माँग ही लोकतंत्र के लोकतांत्रिक मूल्य हैं और इन्हीं मूल्यों का पतन कवि ने भाषा के माध्यम से दिखाया है। भाषा के माध्यम से लोकतांत्रिक मूल्यों के पतन को दर्शाने वाले एकमात्र कवि रघुवीर सहाय ही हैं ऐसा नहीं है। हालांकि ऐसा प्रयास अन्य कवियों (धूमिल, नागार्जुन) ने भी किया है किन्तु वह प्रयास मात्र तथा किसी राजनीतिक प्रतिबद्धता या दलीय राजनीति के प्रति ही रही है। रघुवीर सहाय दलीय राजनीति के विरोध में है। इसीलिए रघुवीर सहाय का लोकतंत्र अन्य कवियों के

लोकतंत्र से अलग किस्म का लोकतंत्र है। और इस अलग किस्म के लोकतंत्र के विरोध की अभिव्यक्ति उनकी काव्य-भाषा विभिन्न स्तरों पर उठाती है, उसे उघारती है।

कवि रघुवीर सहाय ने काव्य-भाषा की अभिव्यक्ति के लिए वर्तमान जीवन को सूक्ष्मता एवं समग्रता में पकड़ा। वहीं दूसरी तरफ अन्य महत्त्वपूर्ण कवि जैसे-अज्ञेय ने भाषा की अभिव्यक्ति के लिए रूपक का आश्रय लिया। शमशेर ने भाषा की अभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट शब्द, वाक्य विन्यास, विशिष्ट सह-संयोजन इत्यादि का आश्रय लिया। नागार्जुन ने तुक, लय और छंद के माध्यम से काव्यभाषा का साँचा निर्मित किया। मुक्तिबोध ने काव्य भाषा का अपना साँचा प्रतीक, बिम्ब एवं फंतासी (फैंटेसी) से निर्मित किया है। इन सभी कवियों की काव्य-भाषा से रघुवीर सहाय की काव्य-भाषा इस अर्थ में भिन्न है कि उन्होंने छन्दबद्ध और छंदमुक्त दोनों तरह की कविताएँ लिखी हैं। उन्होंने अनुभव को समग्रता में पकड़ा है। उनकी कविताएँ पद्य कम गद्य ज्यादा लगती हैं। रघुवीर सहाय उस भाषा के कायल नहीं थे जो शिखरों की ओर न जाकर शहर की ओर जाती थी।

अज्ञेय ने सीढ़ियों पर धूप में की भूमिका में रघुवीर सहाय की भाषा के विषय में निम्नलिखित पंक्तियाँ कही हैं-''रघुवीर सहाय की भाषा, आधुनिक हिन्दी के काव्य की दृष्टि से सफल और प्रभविष्णु उपयोग का अच्छा उदाहरण है। अपने छायावादी समवयस्कों के बीच 'बच्चन' की भाषा जैसे एक अलग आस्वाद रखती थी और शिखरों की ओर न ताककर शहर के चौक की ओर उन्मुख थी, उसी प्रकार अपने विभिन्न मतवादी समवयस्कों के बीच रघुवीर सहाय भी चट्टानों पर चढ़ नाटकीय मुद्रा में बैठने का मोह छोड़ साधारण घरों की सीढ़ियों पर धूप में बैठकर प्रसन्न हैं।''[8]

रघुवीर सहाय की कविताओं में अनावश्यक शब्दों का जंगल नहीं है। उनकी कविताओं में भय (त्रास) और कामदी भी है जो मानवीय जीवन की विडम्बना को लोकतांत्रिक परिप्रेक्ष्य में बड़ी शिद्दत के साथ उधेड़ती है। रघुवीर सहाय की कविता

---

[8] अज्ञेय, भूमिका : सीढ़ियों पर धूप में, पृ. 10, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण-1960

बिम्ब प्रधान नहीं है अपितु उसमें विचारों की एक श्रृंखला मौजूद है।

रघुवीर सहाय की काव्य-भाषा लोकतांत्रिक मूल्यों के पतन की अभिव्यक्ति उसकी समग्रता में करती है कवि द्वारा निम्नलिखित काव्य पंक्तियों में कवि केवल कविता ही नहीं कर रहा है बल्कि भारतीय लोकतंत्र की इस छवि को भी उघार रहा है जिसमें लोकतंत्र का अस्तित्व होते हुए भी व्यक्ति भूख, सूखा, अकाल इत्यादि से मर रहा है। हर एक व्यक्ति अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं की माँग कर रहा है। हर एक व्यक्ति अपना अधिकार, अपनी अभिव्यक्ति को बचाए रखना चाहता है-

"पानी पानी
बच्चा बच्चा
हिन्दुस्तानी
माँग रहा है
पानी पानी"[9]

कवि रघुवीर सहाय भाषा में साहस को लाते हैं। किसी कवि ने पहली बार भाषा में साहस की अभिव्यक्ति की बात कही है। और यह मान्यता स्थापित की कि भाषा की शक्ति साहस में निहित है। या यूँ कहें कि साहस भाषा में निहित है। दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। कवि शोषक वर्ग के विरोध के लिए सशक्त भाषा तो चाहता है साथ में वह साहस भी चाहता है। कवि की यह मान्यता है कि भारतीय समाज ने लोकतंत्र के नाम पर केवल दु:ख ही दु:ख झेला है उसको (समाज) भाषा की सशक्त अभिव्यक्ति के लिए साहस भी जुटाना होगा। अर्थात् जिसके पास भाषा है उसके पास शक्ति भी होनी चाहिए। यह शक्ति शोषित समाज में आनी चाहिए। रघुवीर सहाय अपनी कविताओं को मात्र चित्रात्मक शैली में प्रस्तुत ही नहीं करते अपितु उनमें एक चिन्तन धारा प्रभावित रहती है। उदाहरण स्वरूप निम्न काव्य पंक्तियां मात्र चित्रात्मक शैली ही नहीं

---

9 रघुवीर सहाय, पानी पानी : हँसो हँसो जल्दी हँसो, रघुवीर सहाय प्रतिनिधि कविताएँ, सम्पादक : सुरेश शर्मा, पृ. 74, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा पेपरबैक संस्करण-2006

अपितु समाजवादी चिंतन की एक प्रखर ध्वनि भी है-

"जिन्होंने मुझसे ज्यादा झेला है
वे कह सकते हैं कि भाषा की जरूरत नहीं होती
साहस की होती है
फिर भी बिना बतलाए कि एक मामूली व्यक्ति
एकाएक कितना विशाल हो जाता है
कि बड़े-बड़े लोग उसे मारने पर तुल जाएँ
रहा नहीं जा सकता।"[10]

कवि भाषा में मानवीय भाषा को खोजता है। यह भाषा के क्षेत्र में एक नया प्रयोग है। कवि सार्थक और ओजस्वी भाषा चाहता है जिससे व्यक्ति समुचित और अपेक्षित शब्दों के अभाव में घुट-घुट कर न मरे। जनता की समस्याओं और उनके दुखों को कवि ने अंतरंग किया। कवि ने दुख की अभिव्यक्ति काव्य में करनी चाही किन्तु शासक वर्ग या सत्ता वर्ग तक आम आदमी की आवाज पहुँचाने में वह असफल ही रहा। इसका कारण मात्र यही था कि उसके पास सशक्त एवं समर्थ भाषा की कमी थी। कवि के हृदय का आक्रोश दया और रूदन सभी कुछ व्यर्थ साबित हुआ। मरते हुए मनुष्य के पास अपनी कोई भाषा नहीं है। मरता हुआ मनुष्य शासक वर्ग द्वारा बनाई गई परिस्थितियों में भाषा को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। कवि विचारों एवं भावों को अभिव्यक्त करने के लिए शब्द चाहता है। कवि ऐसा शब्द नहीं चाहता जो दोहरी नीति पर आधारित हो, जो सत्य के कहने में लम्बा समय लगाए और असत्य को उद्घाटित करे। कवि ऐसा भी शब्द नहीं चाहता जिसके दो अर्थ निकलते हैं। कवि एकार्थवाणी वाली भाषा चाहता है। कवि भाषा में संघर्ष लाना चाहता है। कवि चाहता है कि उस संघर्ष का एक ही अर्थ हो। यदि भाषा का दूसरा अर्थ निकलता है तो अर्थ की धार

---

10 रघुवीर सहाय, दो अर्थ का भय : हँसो हँसो जल्दी हँसो, रघुवीर सहाय प्रतिनिधि कविताएँ, सम्पादक : सुरेश शर्मा, पृ. 73, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा पेपरबैक संस्करण-2006

(उद्देश्य) कमजोर हो जाती है, और कवि कमजोर नहीं होना चाहता है। यदि गलत अर्थ अभिव्यक्त भाषा का निकलता है तो वही मारा जाता है जो अभिव्यक्ति का खतरा उठाता है। कवि अभिव्यक्ति के खतरे को उठाने के लिए तैयार है। किन्तु गलत अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए नहीं। रघुवीर सहाय ऐसी भाषा की तलाश में हैं जो सटीक हो, जो केवल एक अर्थ दे और जो स्वयं अपनी शक्ति से संघर्ष या मार करने में सक्षम हो। कवि इस बात की पुष्टि निम्न पंक्तियों के माध्यम से करता है-

"इसलिए कहूँगा मैं
मगर मुझे पाने दो
पहले ऐसी बोली
जिसके दो अर्थ न हो।"[11]

कविता के यदि दो अर्थ निकलते हैं तो उसका विषय या प्रतिपाद्य निर्बल बन जाता है। अर्थात् बोली का एक अर्थ ही व्यक्ति को उसके लक्ष्य तक पहुँचा सकता है। जीवन की परिस्थितियों की अभिव्यक्ति केवल एकार्थ से ही हो सकती है।

रघुवीर सहाय की कविताओं के शिल्प ने हमेशा एक नया आयाम ढूँढा है। कवि की अधिकतर कविताओं में भाषा की नाटकीयता के दर्शन होते हैं। कवि की भाषिक अभिव्यक्ति में शब्द और अर्थ के बीच कोई दूरी नहीं है। कवि की भाषा व्यंग्यकोश लिए हुए भी है। कवि की भाषा व्यंग्य के जरिए सत्ता की घटिया राजनीति और उसके द्वारा निर्मित की गई परिस्थितियों के विरूद्ध एक आक्रोश व्यक्त करती है।

कवि ने गद्यात्मक वाक्य विन्यास के जरिए आज़ादी के बाद भारत के लोगों की दुर्दशा का अत्यन्त भयावह चित्र निम्नलिखित पंक्ति में खींचा है-

"चारों दिशाओं से चारों दिशाओं में
उजड़े घर छोड़कर दूसरे उजाड़ों में

---

[11] रघुवीर सहाय, दो अर्थ का भय : हँसो हँसो जल्दी हँसो, रघुवीर सहाय प्रतिनिधि कविताएँ, सम्पादक : सुरेश शर्मा, पृ. 74, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा पेपरबैक संस्करण-2006

लोग जा रहे हैं भूख और अपमान की ठोकरें खाकर
इतिहास, पीड़ा का इतिहास उनको बताता है
यह जमीन यहाँ तक जुड़ी है वह उनका घर नहीं
उनके बच्चे ही उनका घर है।''[12]

कवि ने काव्य-भाषा में वाक्य विन्यास को तोड़कर देश की राजनीतिक आर्थिक स्थितियों का वर्णन किया है। विसंगति और विडम्बना का जो संसार है उसमें लोकतंत्र नाम मात्र का लोकतंत्र है। ऊपरी और भीतरी दोनों ही सतहों पर यह लोकतंत्र अब राजतंत्र में परिवर्तित हो चुका है। अनपढ़ एवं स्वार्थी राजनीतिज्ञ देश की सामान्य जनता के निर्णायक बन बैठे हैं। इन महान राजनीतिज्ञयों ने लोकतांत्रिक मूल्यों की संकल्पना को ध्वस्त कर दिया है। आज़ाद भारत में व्यक्ति की इच्छाओं की संतुष्टि ही 'मूल्य' माना गया किन्तु मूल्यों को सृजनात्मक संभावनाओं तथा विकास से नहीं जुड़ने दिया गया। जिसके कारण एक अराजकता की स्थिति लोकतंत्रीय माहौल में फैल गई है। आज देश की गरीब जनता का घर-परिवार, जीवन-परिवेश सब कुछ ऊब से भर गया है। एक उदासी उनके चेहरों पर स्पष्ट रूप से झलक उठती है। कवि की भाषा में सपाट बयानी भी मिलती है अर्थात् कवि बातों को ज्यों का त्यों रखता चला जाता है। अनुभव की नाटकीयता को अपनाकर सपाटबयानी को और अधिक काव्यात्मक बना दिया है। सपाटबयानी का अर्थ यहां गद्यात्मक नहीं है। इसी संदर्भ में 'एक अधेड़ भारतीय आत्मा' शीर्षक की प्रसिद्ध निम्न पंक्तियां द्रष्टव्य हैं-

''कहते तुम ठीक हो चुप रहो
और मेरे साथ बेईमानी में शरीक हो
संघ रहे संघ रहे उसने कहा
भारत का। चाहे हर भारतीय हर भारतीय का
गुलाम रहे।''[13]

---

12 रघुवीर सहाय, आजादी : लोग भूल गए हैं, रघुवीर सहाय प्रतिनिधि कविताएँ, सम्पादक : सुरेश शर्मा, पृ. 127, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा पेपरबैक संस्करण-2006

उपर्युक्त पंक्तियों को ऊपर से देखने पर शिल्पात्मक सौंदर्य के दर्शन नहीं होते हैं। इसमें न तो बिम्ब है और न तो प्रतीक है। इसकी भाषा भी गद्यात्मक भाषा के निकट जान पड़ती है किन्तु यदि गहराई से और रूक-रूक कर इसका अवलोकन करें तो इसमें शासक वर्ग के चरित्र और जनता के मध्य एक तनाव की स्थिति का चित्रण है। यहाँ भारतीय जनतंत्र की विडम्बनापूर्ण मनुष्य विरोधी दोहरे चरित्र की स्थिति को उजागर किया गया है। रघुवीर सहाय की सपाटबचानी के इतिवृत्तात्मकता नहीं है, जीवन की सच्चाई है। इस सपाटबयानी में एक आन्तरिक लयात्मता विद्यमान रहती है जो सुव्यवस्थित मानसिकता जो कि अनुभव से बनी है, उसकी उपज होती है। सपाटबयानी को भाषा का एक प्रमुख गुण अनेक विद्वानों ने माना है। उन्हीं विद्वानों में से एक प्रख्यात आलोचक नामवर सिंह ने 'कविता के नए प्रतिमान' में सपाटबयानी को भाषा का एक प्रमुख गुण मानते हुए लिखा है- ''कविता में सपाटबयानी का यह आग्रह वस्तुत: गद्य सुलभ जीवन वाक्य विन्यास को पुन: प्रतिष्ठित करने का प्रयास है जिसके मार्ग में बिम्बवादी रूझान निश्चित रूप से बाधक रहा है।''[14]

रघुवीर सहाय भाषा के लिए किसी भी प्रकार का मापदण्ड निर्धारित नहीं करते हैं। शिल्प-लय, तुक, छन्द, नाद इत्यादि की सार्थकता उनकी नजर में तभी है जब इनसे चीज़ों को समझने का एक ढंग विकसित हो। यथार्थ की एक समझ विकसित हो। भाषा के साथ यथार्थ की एक समझ का जो रिश्ता बनता है वह कृति को अद्वितीय बनाती है।

रघुवीर सहाय यथार्थ की समझ को चित्र-बिम्ब के रूप में भी अभिव्यक्त करते हैं। इस चित्र-बिम्ब के जरिए न्याय जैसे लोकतांत्रिक मूल्य के पतन की अभिव्यक्ति पुरजोर शब्दों में करते हैं।वह साधारण व्यक्तियों के वीभत्स एवं दर्दनाक जीवन को जीवंत रूप में चित्रित करते हैं। लोकतंत्रीय न्याय की संकल्पना मात्र एक दिखावा ही है।

---

13 रघुवीर सहाय, एक अधेड़ भारतीय आत्मा : आत्महत्या के विरूद्ध, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1967

14 नामवर सिंह, कविता के नए प्रतिमान, पृ. 134, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-1974

सच तो यह है कि 'न्याय' तो भारतीय लोकतंत्र में है ही नहीं बल्कि अन्याय का साम्राज्य फैला हुआ है। असहाय व्यक्ति जो असंगठित है लाचार है उस पर शोषक (पूँजीवादी) समाज या शासक वर्ग द्वारा इतना अधिक शोषण किया गया कि उसका जीवन बिल्कुल समाप्ति की कगार पर पहुँच गया है। उसके साथे लगातार न्याय नहीं बल्कि अन्याय ही किया जाता रहा है। सरकार द्वारा उसको शोषण से बचाने के लिए किसी भी प्रकार का महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया गया और न ही उसके साथ किसी भी प्रकार का कोई न्याय किया गया। आम आदमी बेबस है और वह अपने सुविधासम्पन्न जीवन की आस छोड़ बैठा है। मानवीय संवेदनाएँ आज मृत हो गई हैं। शासक वर्ग या पूँजीपति वर्ग में आज असहाय और अपंग व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार की संवेदना नहीं बची है। शोषक वर्ग द्वारा आम आदमी पर किए जाने वाले अत्याचार में निरन्तर बढ़ोत्तरी ही हुई है। वृद्ध, अपाहिज, निसहाय यहाँ तक कि नन्हें बच्चे की मदद के लिए कोई तैयार नहीं है। निम्नलिखित कविता में कवि भ्रष्ट प्रशासन तंत्र के कारण आम आदमी के निरन्तर जटिल होते जीवन की प्रक्रिया की ओर सेंकेत करता है-

"इस वर्ष मैंने देखा बल्कि एक दिन देखा
एक दिन अस्पताल एक दिन स्कूल के सामने
खड़ा हआ एक लँगड़ा बूढ़ा एक दिन नन्हा लड़का पार
जाने को एक एक घंटे इंतजार में।"[15]

कवि की भाषा व्यंग्यात्मकता लिए हुए है और कवि की भाषा में जो व्यंग्य है वह व्यंग्य नही बल्कि व्यापक पीड़ा का स्वर है।

रघुवीर सहाय की भाषा व्यंग्यात्मकता के जरिए कानून, स्वतंत्रता, समानता इत्यादि जैसे लोकतांत्रिक मूल्यों की बखिया उधेड़ कर रख देती है। कवि ने स्वतंत्र भारत में

---

15 रघुवीर सहाय, सड़क पर रपट : हँसो हँसो जल्दी हँसो, रघुवीर सहाय प्रतिनिधि कविताएँ, सम्पादक : सुरेश शर्मा, पृ. 70, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा पेपरबैक संस्करण-2006

भ्रष्ट स्वार्थी नेताओं के चेहरे और दोहरे चरित्र को बखूबी पहचाना है। वर्तमान लोकतंत्र में भ्रष्ट नेताओं के कारण समाज में न तो कानून रह गया है और न ही स्वतंत्रता एवं समानता बची है। शिशु, माँ, बूढ़े, असहाय व्यक्ति इत्यादि के बारे में कानून, स्वतंत्रता, समानता इत्यादि मृत घोषित हुए हैं।

कवि रघुवीर सहाय के ही शब्दों में-

''यही कि मैं शिशु सहित माँ के
साथ हूँ साथ हूँ साथ हूँ
बशर्ते कि बलात्कार से माँ
और बन्दूक से बच्चा
अपने को बचा लें।''[16]

रघुवीर सहाय ने जिस भाषा में काव्याभिव्यक्ति की है, वह आम-बोलचाल की भाषा है। क्योंकि रघुवीर सहाय स्वयं एक पत्रकार भी थे अत: जनता और अख़बार की जो भाषा होती है-वह बोलचाल की ही भाषा है। बोलचाल की भाषा का प्रयोग कर कवि ने पत्रकारिता क्षेत्र के विस्तारित अनुभव को काव्यात्मक अनुभव बनाया।

रामस्वरूप चतुर्वेदी ने रघुवीर सहाय द्वारा प्रयुक्त इसी साधारण बोलचाल की भाषा के बारे में कहा है कि-''जनता और अख़बार को जोड़ने वाला एक मुख्य तत्त्व साधारण बोलचाल की भाषा है। बोलचाल पर आग्रह प्रियप्रवास में सबसे कठिन भाषा लिखने वाले कवि हरिऔंध से आरम्भ हो जाता है। जब वे अपने चौपदों में इसका प्रयोग करते हैं। पर यहाँ स्पष्ट ही कौतूहल और प्रदर्शन का भाव अधिक है, बोलचाल में रचनात्मक आस्था कम। छायावाद में उत्तरकालीन निराला सचमुच बोलचाल को उठाते हैं, और फिर उत्तरछायावाद, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद में लगभग एक आन्दोलन के रूप में जनसाधारण द्वारा प्रयुक्त भाषा रचना में महत्व पाती है। बच्चन, दिनकर, नरेन्द्र, नागार्जुन, केदार, शमशेर, अज्ञेय, मुक्तिबोध में बोलचाल के अपने-अपने रंग हैं। नयी

---

16 रघुवीर सहाय, आमार सोनार : हँसो हँसो जल्दी हँसो, पृ. 62, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006

कविता में पहुँच कर बोलचाल पर आग्रह खत्म हो जाता है, बोलचाल रह जाती हे। या कहें कि बोलचाल कविता का आन्दोलन न होकर स्वभाव बन जाता है। इसी बिन्दु पर रघुवीर सहाय आते हैं एक दूसरे को सक्रिय और समृद्ध करते हुए।''[17]

रघुवीर सहाय ने सामान्य शब्दों को एक नवीन अर्थवत्ता प्रदान की है। वे आवरणयुक्त भाषा का इस्तेमाल नहीं करते हैं। उन्होंने भाषा में नए बिम्ब, नए प्रतीक और सर्वथा नए उपमानों की तलाश की है। उनकी भाषा गहरी अर्थवत्ता से सारोबार है। उनका भाषागत यथार्थ कविताओं को विचारों से जोड़कर एक नई सृष्टि का निर्माण करता है। पत्रकारिता से जुड़े होने के कारण रघुवीर सहाय की काव्यभाषा जनसाधारण की बोलचाल की भाषा से जुड़ी हुई है। सपाट बचानी और बिना लाग-लपेट के वह अपनी बात कहते हैं और इसमें उन्हें किसी भी प्रकार का संकोच नहीं होता है। इसमें कवि की अहं भावना भी बीच में नहीं आती है। उनकी काव्यभाषा का जो संस्कार है वह शहरी मध्यम वर्ग का संस्कार माना जाता है किन्तु अगर गहराई से इसका अवलोकन करें तो वह हर एक गरीब एवं सामान्य व्यक्ति का संस्कार है जो वर्तमान प्रजातंत्र से विक्षुब्ध है। रघुवीर सहाय अपने काव्य शिल्प के प्रति सदैव सजग रहे हैं किन्तु यह सजगता काव्य शिल्प को विशिष्ट बनाने के लिए नहीं अपितु जनसामान्य के लिए बोधगम्य और संवेदनशील बनाने के लिए रही है।

रघुवीर सहाय ऐसी भाषा के प्रयोग पर बल देते हैं जिस तरह की भाषा का परिष्कार भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, निराला पंत इत्यादि ने किया और तत्पश्चात् रघुवीर सहाय ने भी इसी तरह की भाषा को महत्व दिया। प्रकृति, प्रेम, स्त्री, संसद या समान्य आदमी इनकी भाषा में अभिव्यक्ति पाते हैं।

रघुवीर सहाय की काव्य-भाषा बातचीत की भाषा है। ये काव्यरूप, काव्य के विन्यास और लय के साथ खिलवाड़ सा करते रहते हैं, उसको तोड़ते और बदलते रहते हैं। उनकी भाषा में गाँव और शहर दोनों जगहों के शब्द हैं। रघुवीर सहाय की

---

17 रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवीर सहाय : कविता और गद्य का क्रमिक अद्वैत (लेख) पूर्वग्रह, अंक 102

काव्य-भाषा में अंग्रेजी के शब्द पुलिस, टेलीविजन, फैशन इत्यादि।

उर्दू के शब्द - दरबार, दिमाग, रपट इत्यादि।

देहात के शब्द - टरक, डरेवर, रपट इत्यादि।

मुहावरों का प्रयोग- ताक में बैठना, मारने पर तुल जाना।

पशुओं की बोलियाँ- खोंखियाना, किकियाना, भिनभिनाना, कुड़कुड़ाना, हिनहिनाना आदि के द्वारा मनुष्य की विभिन्न मानसिक स्थितियों का यथार्थवादी एवं मर्महांतक चित्रण किया है।

रघुवीर सहाय ने कविता को गद्य के निकट लाकर शिल्पात्मक सौन्दर्य (बिम्ब, प्रतीक, मिथ, छंद) का कम से कम प्रयोग किया है। सहाय की कविता में समाज, राजनीति, लोकतंत्र का वैचारिक विश्लेषण किया गया है। रघुवीर सहाय की भाषा विस्तारित अनुभव और जीवंत जिन्दगी की भाषा है। खोंखियाना, किकियाना, हिनहिनाना, भिनभिनाना इत्यादि शब्दों के जरिए कवि ने यह दर्शाया है कि वर्तमान लोकतंत्र ने आदमी की दशा बहुत ही दयनीय एवं घृणात्मक बना दी है। व्यक्ति अब मात्र व्यक्ति नहीं बल्कि वह पशु में तब्दील होता जा रहा है। वर्तमान समाज अब पशुता के गुणों में गुणातीत होकर पशु की जिन्दगी जीने के लिए अभिशप्त है। इससे बड़ा अपराध और क्या हो सकता है जो लोकतंत्र ने तंत्र के द्वारा लोक पर ढाया है। इसी महत्त्वपूर्ण बिन्दू पर आकर स्वतंत्रता, समानता, बंधुता, न्याय इत्यादि लोकतांत्रिक मूल्यों की धज्जियाँ उड़ा दी गई हैं। राजनीति, जनतंत्र और शांति, सुरक्षा इत्यादि की आड़ लेकर नेताओं ने केवल अपना स्वार्थ साधा है। संसद जैसे मंदिर को मधुशाला, अजायबघर बना दिया गया है। यह देशद्रोही नेताओं का अड्डा बन चुका हे। सामाजिक विकृतियों और शोषण का मूल कारण इसी में निहित है। यह शोषण और अत्याचार, भ्रष्टाचार, हताशा फैलाने का केन्द्र बन चुका है। यह भारत के हर एक व्यक्ति का भाग्य विधाता बन गया है।

रघुवीर सहाय की भाषा में एक कथा चलती है। पूरी कविता की भाषा का लहजा लय और गति को लेकर चलता है। कथा में किसी प्रकार का कोई सैद्धान्तिक विधान नहीं किया गया है बल्कि बहुत से अनुभव के टुकड़े हैं जो आदमी की

मर्मस्पर्शी कथा बुनते हैं। इस मर्मस्पर्शी कथा की भाषा में कामा, अर्द्धविराम या पूर्ण विराम इत्यादि कुछ भी नहीं है, जो वाक्य की गति पर अंकुश लगाकर कथा को प्रभावित करे। कवि की कविता सुनने के बाद एक सन्नाटा, एक चुप्पी सी वातावरण में छा जाती है।

रघुवीर सहाय अपनी कविताओं में 'सार्थक भाषा' को महत्व देते हैं। वह 'सार्थक भाषा' की अभिव्यक्ति को ही काव्य के लिए श्रेष्ठ मानते हैं। उन्हें यह भलि-भाँति ज्ञात है कि भाषा मात्र अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं होती बल्कि कुछ और भी हुआ करती है। कवि ने भाषा को लड़ने का एक मुद्दा माना है। कवि की दृष्टि में भाषा संघर्ष की एक शक्ति है।

यदि भाषा भ्रष्ट है तो वह संघर्ष करने की शक्ति नहीं दे सकती। वर्तमान सत्ता ने भाषा को विकृत किया है, उसका दोहन किया है, उसका व्यावसायिकरण किया है। सत्ता ने सार्थक भाषा को समसामयिक जीवन संदर्भों से, लोक भंगिमाओं से निरन्तर अलग ही किया है। आम आदमी से उसके प्रतिरोध के स्वर छीन लिए गए हैं। कवि बड़ी शिद्दत के साथ इन तथ्यों को व्यापक स्तर पर उठाता है। कवि सार्थक भाषा की सही पहचान करता है। कवि यह मानता है कि सार्थक भाषा वह है जो एक आम आदमी के दु:ख को कविता में अभिव्यक्त कर सके। भविष्य के खतरों की चेतावनी पूर्व में ही देकर व्यक्ति का, समाज का अधिक से अधिक हित कर सके। कवि रघुवीर सहाय के ही शब्दों में-

"मुझे मालूम था मगर इस तरह नहीं कि जो
खतरे मैंने देखे थे वे जब सच होंगे
तो किस तरह उनकी चेतावनी देने की भाषा
बेकार हो चुकी होगी
एक नयी भाषा दरकार होगी।"[18]

---

18 रघुवीर सहाय, दो अर्थ का भय : हँसो हँसो जल्दी हँसो, रघुवीर सहाय प्रतिनिधि कविताएँ, सम्पादक : सुरेश शर्मा, पृ. 73, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा पेपरबैक संस्करण-2006

कवि का मानना है कि जनता ने जो आज तक दुःख झेला है, जो कष्ट सहे हैं उनकी अभिव्यक्ति के लिए नए संदर्भों के अन्तर्गत एक नयी भाषा की जरूरत अत्यन्त तीव्रता के साथ है। आज एक नई भाषा की आवश्यकता है। यह नई भाषा शोषक वर्ग या पूँजीवादी वर्ग या सत्ता वर्ग के विरूद्ध आवाज उठाने की शक्ति भी देगी। समय के बदलाव के साथ-साथ स्वरों का बदलाव भी होना चाहिए। कवि का तात्पर्य यही है कि साधारण जन को मानव विरोधी क्रियाकलापों का संगठित होकर नए ढंग से विरोध करना होगा।

जिस व्यक्ति के पास भाषा नहीं होती है उसका विरोध भी संगठित नहीं होता है। संगठित विरोध न होने के कारण वह हर गली और हर मोड़ पर मारा जाता है।

स्वतंत्रता के बाद भारतीय राजनीति में अनेक विसंगतियाँ और विडम्बनाएँ उत्पन्न हुई हैं। नेता वर्ग की एक नई भ्रष्टाचारी सेना ने जन्म लिया है। भ्रष्ट नेताओं और प्रशासन की साझेदारी ने आम आदमी के जीवन को नरक से भी बद्तर बना दिया है। आज शब्द और अर्थ दोनों ही अपनी अर्थवत्ता खो चुके हैं। इसलिए कवि नया अर्थ, नया शब्द चाहता है। आज का काव्य, शब्द और भाषा कवि की जिज्ञासा को शांत नहीं कर पा रहा है। आज साहित्यकार, साहित्यकार की निजी दुनिया से बेगाना होता जा रहा है। उसे जिस दुनिया में रहना पड़ रहा है वह बनावटी है, विरोधाभासों से ग्रस्त है। परम्परागत भाषा इन विरोधाभासों को अभिव्यक्त करने में असमर्थ है। कवि कुछ नया चाहता है। नए का अर्थ रोग अलापना नहीं बल्कि समस्याओं की जीवंत एवं सम्पूर्ण अभिव्यक्ति है और इस अभिव्यक्ति पर वह किसी भी प्रकार का बाहरी दवाब नहीं चाहता है। वह शक्तिशाली भाषा चाहता है। कवि काव्य के परम्परागत बंधनों को स्वीकार नहीं करता है। वह रूढ़ भाषा और शब्द नहीं चाहता जो शब्द उसको उसकी सम्पूर्णता में अभिव्यक्ति प्रदान न कर सके। परिवर्तित परिस्थितियों को दर्शाने के लिए एक नई भाषा की आवश्यकता है। कवि छन्दोबद्ध भाषा में भी अभिव्यक्ति नहीं चाहता है। आर्थिक विषमता और भ्रष्ट प्रशासन के कारण व्यक्ति में दया, सहयोग, परोपकार, कर्त्तव्यबोध, नैतिकता इत्यादि भावों का निरन्तर विघटन ही होता गया है। भौतिक

उन्नति के साथ जहाँ मनुष्य की गरिमा, उसके अस्तित्व उसकी जिजीविषा का ह्रास हुआ है। देश में अशांति, असुरक्षा की भावना बढ़ती ही गई है। आज कानून या व्यवस्था का कोई नाम नहीं है। निम्न वर्ग के लोग सड़क पर कुत्ते जैसी मौत मरने के लिए अभिशप्त है। आज कानून और व्यवस्था को तोड़ना ही सर्वोपरि मूल्य बनता जा रहा है।

शोषण तंत्र ने आज आम आदमी का जीवन कष्टयुक्त बना दिया है। कवि भाषा के माध्यम से यथार्थवाद को जीवित रखता है।

कवि ने इस तथ्य को भलि-भांति पकड़ा है कि शासक वर्ग और जनता के बीच अंग्रेजी भाषा ने संवादहीनता की स्थिति उपस्थित कर दी है। शासक वर्ग ने दिनों दिन अंग्रेजी भाषा को बढ़ावा दिया ताकि जनता अपनी परेशानियों को अपनी ही भाषा में अभिव्यक्त न कर सके। शासक वर्ग ने भाषा की अभिव्यक्ति जैसे मौलिक अधिकारों को भी भ्रष्ट बनाकर उसका हनन किया। भाषा कवि नहीं बनाता अपितु भाषा को समाज बनाता है। भाषा तो हमेशा और हर युग में रही है। भाषा पूरे एक समुदाय से निर्मित हुई है। कवि इसी समाज से अनुभव और भाषा को ग्रहण करता है। भाषा के निर्माण में समाज की अहम भूमिका होती है। समाज भाषा की जननी है और कवि उसका परिष्कारकर्ता एवं ग्रहणकर्ता है। कवि की भाषा समाज में विस्तारित विभिन्न रंगों की एक श्रृंखला है, एक प्रक्रिया है। कवि रघुवीर सहाय की भाषा जिस प्रकार दूसरे सप्तक में थी ठीक उसी प्रकार की भाषा अपने वर्तमान समय में नहीं है। उसमें बहुत सारा परिवर्तन एवं परिवर्द्धन हुआ है। कवि की भाषा समय और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तनशील रही है।

कवि जिस समाज से वस्तु को ग्रहण करता है उसी समाज से शब्द भी लाता है। कवि की भाषा पर यह आरोप अक्सर लगाया जाता है कि उनकी भाषा अखबारी हैं यह मन्तव्य ठीक नहीं है। उनकी भाषा आधुनिक जीवंत भाषा है, जनवादी भाषा है। नागार्जुन, त्रिलोचन, और शमशेर के बाद खड़ी बोली हिन्दी का अनेक रूपों में प्रयोग रघुवीर सहाय ने ही किया है।

रघुवीर सहाय की कविताओं में छंद का भी प्रयोग है किन्तु वह प्रचलित काव्य

छन्द से भिन्न अर्थ रखता है। रघुवीर सहाय ने दुनिया को, सत्य को देखने की जो दृष्टि दी है और उस दृष्टि से जो समझ विकसित होती है उसे छंद माना है। यह उनकी काव्य भाषा का एक महत्त्वपूर्ण गुण है जो अन्य कवियों से अलग प्रकार का है।

रघुवीर सहाय द्वारा रचित निम्न पंक्तियों में उपर्युक्त तथ्य द्रष्टव्य है-

''राष्ट्र गीत में भला कौन वह
भारत भाग्य विधाता है
फटा सुथन्ना पहने जिसका
गुन हरिचरना गाता है।''[19]

यह एक द्वन्द्वात्मक कविता है जिसमें द्वंद की छटा एकरसता में ध्वनित होती है। इसमें लोकतंत्र की उस भयावह स्थिति का वर्णन है जिसमें ऐसा कोई भी प्रतिनिधि नहीं है जिस पर एक गरीब भिखारी हरिचरना भी भरोसा कर सके, जो उसके गुण गा सके। ठीक इसी प्रकार एक अन्य कविता भी द्रष्टव्य है जिसमें छन्द के माध्यम से स्त्री व्यथा के जीवंत चित्र अपने आप पाठकवर्ग की आँखों में उतर आते हैं। रघुवीर सहाय सन् 60 के बाद की कविताओं के जरिए स्त्री की अस्मिता और गरिमा को बचाए रखने के लिए संघर्षरत है।

''पढ़िए गीता
बनिए सीता।''[20]

'पढ़िए गीता, बनिए सीता' छंद स्त्री जीवन की भयावह स्थिति पर पुरूषवर्चस्ववादी समाज के अत्याचार का चित्रण दर्शाता है।

आज़ादी के बाद हिन्दी का जो रूप उभरकर सामने आया वह कृत्रिम मात्र था

---

19 रघुवीर सहाय, अधिनायक : आत्महत्या के विरूद्ध, रघुवीर सहाय प्रतिनिधि कविताएँ, सम्पादक : सुरेश शर्मा, पृ. 46, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा पेपरबैक संस्करण-2006

20 रघुवीर सहाय, पढ़िए गीता : सीढ़ियों पर धूप में, रघुवीर सहाय प्रतिनिधि कविताएँ, सम्पादक : सुरेश शर्मा, पृ. 28, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा पेपरबैक संस्करण-2006

क्योंकि वह अंग्रेजी मानसिकता की उपज थी। इस मानसिकता ने भारत के दो छोरों-शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों के बीच, सामान्य एवं गरीब जनता के मध्य संवाद होने ही नहीं दिया। एक संवादहीनता की स्थिति निरन्तर बनी रही। कवि रघुवीर सहाय ऐसी हिन्दी को स्वतंत्र भारत की भाषा नहीं अपितु गुलामी की बेड़ियों में जकड़ी परतंत्र भारत की भाषा मानते हैं।

स्वयं रघुवीर सहाय के ही शब्दों में-

"आजादी के मालिक जो हैं गुलाम हैं
उनके गुलाम हैं जो वे आज़ाद नहीं
हिन्दी है मालिक की
तब आज़ादी के लिए लड़ने की भाषा फिर क्या होगी?"[21]

ठीक इसी प्रकार एक मुहावरा जो अपने आप में एक अर्थ गम्भीर्य को लिए हुए हैं-

"आँख फाड़े सुकुल यह रहस्य देखता
उत्तर दक्षिण के 36 भये देवता।"[22]

यहाँ अंग्रेजी में 3 और 6 लिखा हुआ है किन्तु शुद्ध हिन्दी अंकों में यह नहीं लिखा है जैसे-36। अंग्रेजी के 36 का हिन्दी के 36 से किसी भी प्रकार का कोई सम्बंध नहीं है। रघुवीर सहाय की कविता तभी होती है जब वह विषय से दूर और वस्तु के निकट हो।

कवि की मुश्किल आज केवल भाषा ही नहीं है बल्कि एक सबसे बड़ी मुश्किल जनता है, जिसको वह सार्थक भाषा देना चाहते हैं। यह भ्रष्ट राजसत्तरा के विरूद्ध प्रतिरोध की भाषा है।

डॉ. नामवर सिंह के अनुसार-"रघुवीर सहाय भाषा पर सबसे ज्यादा जोर देते हैं।

---

21 रघुवीर सहाय, हिन्दी : लोग भूल गए हैं; रघुवीर सहाय प्रतिनिधि कविताएँ, सम्पादक : सुरेश शर्मा, पृ. 122, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा पेपरबैक संस्करण-2006

22 रघुवीर सहाय, हिन्दू पुलिस : हँसो हँसो जल्दी हँसो, रघुवीर सहाय प्रतिनिधि कविताएँ, सम्पादक : सुरेश शर्मा, पृ. 86, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा पेपरबैक संस्करण-2006

उन्होंने एक जगह स्पष्ट लिखा है कि बहुत से लोग समझते हैं कि रूप या भाषा पर ज्यादा जोर देना रूपवाद है उनका मानना था कि रूप भी यथार्थ होताा है। रूप यानी फार्म। रघुवीर सहाय जब भाषा पर जोर देते हैं तो इसका कारण यह है कि विचारों की लड़ाई या सामाजिक शक्तियों की लड़ाई या वर्गों की लड़ाई लेखक या कवि के सामने स्पष्ट रूप से जिस मोर्चे पर व्यक्त होती है वह भाषा का ही मोर्चा है।''[23]

स्वयं रघुवीर सहाय इस बात की स्वीकृति निम्न पंक्तियों से देते हैं-

''अपने को अंत में मरने सिर्फ अपने मोर्चे पर दूँ-
अपनी भाषा के, शिल्प के और उस दोतरफा जिम्मेदारी
के मोर्चे पर जिसे साहित्य कहते हैं।''[24]

रघुवीर सहाय की यहाँ मूल चिंता कला की नहीं अपितु मनुष्य निर्मित समाज में राजनीतिक विडम्बना और घोर आर्थिक, सामाजिक स्थितियों की भयावह विद्रुपता में है। और साहित्य के मोर्चे पर रहकर ही कवि इन सभी प्रकार के अलोकतांत्रिक संगठन शोषणकारी समाज और भ्रष्ट प्रशासनतंत्र के विरूद्ध प्रतिरोध के स्वर को मुखरित करना चाहता है, उनसे जूझना चाहता है उन्हें लोकहित के संदर्भ में जवाबदेह बनाना चाहता है।

उप-अध्याय (घ) : निष्कर्ष-

कवि समय-समय पर भाषा में नए-नए प्रयोग करता रहा है। समय के अन्तराल के साथ-साथ कवि की भाषा की मारक क्षमता कम नहीं हुई है। बल्कि वह और बढ़ती ही गई है। 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' का व्यंग्य भरा मुहावरा प्रशासन व्यवस्था पर सीधा प्रहार करता है। व्यक्ति की जिन्दगी ऐसी हो गई है कि उस पर व्यवस्था लगातार हँसती ही जा रही है अर्थात् कहर बरसा कर जोर-जोर से ठहाके लगाकार हँस रही है। 'संसद' निष्क्रीय हो गया है। इस संसद के प्रति कवि का आक्रोश निरन्तर बना ही रहता है।

---

23 नामवर सिंह, रघुवीर सहाय का छन्द (लेख), पूर्वग्रह, अंक-102

24 रघुवीर सहाय, वक्तव्य : आत्महत्या के विरूद्ध, रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-1, सम्पादक : सुरेश शर्मा, पृ. 103, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2006

लोग भूल गए हैं कि कुछ कविताओं में कवि का काव्य एकदम गद्यात्मक रूप लिए हुए है। 'आत्महत्या के विरूद्ध' में कवि ने भाषा का एकदम शक्तिशाली रूप दर्शाया है। नाटकीयता के कारण कविता की भाषा का विकास उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है जिसमें तनाव अपने चर्मोत्कर्ष रूप को प्राप्त हो जाता है। अतः रघुवीर सहाय ने सर्वदा मौलिक प्रयोग किए हैं जो अन्य कवियों के काव्यार्थ से भिन्न एक नया काव्यार्थ विकसित करते हैं जिसमें लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुँचा हुआ है।

रघुवीर सहाय ने काव्य का नया साँचा निर्मित किया है। रघुवीर सहाय की काव्य-भाषा जुझारू भाषा नहीं बल्कि उसमें सत्ता से संघर्ष करने की अद्वितीय क्षमता है। जनता और सत्ता के बीच तनाव की तार उस वक्त टूटेगी जब मरे हुए व्यक्ति के पास भी उसकी अपनी एक सार्थक भाषा होगी। रघुवीर सहाय की नई चिंता कला की नहीं अपितु व्यक्ति को भीतर से व्यक्ति बनाने तथा प्रजातंत्र को वास्तविक या यथार्थवादी, लोकवादी प्रजातंत्र बनाने की है। एक आम आदमी के दर्द को लोकतंत्र का दर्द बनाने की है।

रघुवीर सहाय ने काव्य भाषा का जो नया साँचा निर्मित किया है उसमें अलंकार, बिम्ब, छंद अर्थात् काव्यभाषा के उपकरणों का इस्तेमाल कम है। इस नए साँचे में यथार्थ की नई समझ अपने वास्तविक सम्बंधकारी रूप में उपस्थित है। इस नए साँचे में कवि लोकतांत्रिक मूल्यों का पतन व्यापक एवं अलोकतांत्रिक रूप में पाता है।

उपसंहार

रघुवीर सहाय प्रगतिशील व्यष्टिबोध की धारा 'नई कविता' के महत्त्वपूर्ण कवि हैं। वह नई कविता, साठोत्तरी कविता और उसके बाद आने वाली कविता के भी महत्त्वपूर्ण कवि माने जाते हैं। उनकी प्रारम्भिक कविताएँ प्रकृति, स्त्री, प्रेम अर्थात् रोमांस के रचनात्मक विनियोग से एक नए काव्य-व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं। तब शायद रघुवीर सहाय की राजनीतिक चेतना उतनी प्रखर नहीं थी, जितनी कि बाद के दिनों में हुई। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय समाज में भारतीय राजनीति ने प्रवेश किया और इस भारतीय राजनीति ने भारत को, उसके समाज को भ्रष्ट किया। सत्ता जिन लोगों के हाथों में आई, वह स्वतंत्रता सेनानी कम तथा स्वार्थलिप्सा में ज्यादा लिप्त थे। परिणामस्वरूप विसंगतियाँ, विडम्बनाएँ उभरकर जनता के सम्मुख आईं। रघुवीर सहाय ने पहली बार राजनीतिक चेतना का गहरा साक्षात्कार किया और 'दूसरा सप्तक' (1951) के बाद आने वाली कविताओं में हमने रघुवीर सहाय को एक नए व्यक्तित्व से सराबोर पाया। क्योंकि इस नए व्यक्तित्व में एक प्रखर राजनीतिक चेतना के दर्शन हुए। राजनीति को कविता का विषय बनाकर कवि ने जीवन के हर एक पहलु को अभिव्यक्ति दी। यह एक आश्चर्य की बात थी कि जिस कवि ने रोमानियत की ज़मीन पर जन्म लिया हो वह आगे चलकर घोर यथार्थवाद को ज़मीन पर अपना विकास करेगा। यहाँ कहा जा सकता है कि अपने समय में घटने वाली घटनाओं का प्रभाव कवि रघुवीर सहाय पर सबसे ज्यादा पड़ा है और इस प्रभाव का स्वर उन्होंने अपनी आने वाली कविताओं में दिया है और इसलिए ही सन् 1960 ई. के आसपास राजनीति विशेषज्ञ एवं चितेरे के रूप में भारतीय लोकतंत्र के हर लोक में हैं। रघुवीर सहाय कमज़ोर वर्ग के प्रतिनिधि कवि हैं। और यह कमज़ोर वर्ग, गरीब तथा सामान्य मध्यम वर्ग है। मेहनतकश और गरीब लोगों का शोषण करने वाले सत्ताधारी वर्ग या पूँजीवादी गर्व के विरूद्ध वह अपनी रचनात्मक दुनिया को रखते हैं और साहित्य के माध्यम से प्रतिरोध के स्वर को प्रबलता प्रदान करते हैं। सीढ़ियों पर बैठा कवि धूप में आकर अनुभव को बटोरकर यथार्थ को

एक नए रूप में परिभाषित करता है कि यथार्थ यथास्थिति नहीं है, बल्कि वह एक मानवीय सम्बंधों का परिप्रेक्ष्य है और इस मानवीय सम्बंधों को अमानवीयता में तब्दील करने का श्रेय भ्रष्ट प्रशासनतंत्र एवं भ्रष्ट लोकतांत्रिक राजनीति को है। प्रजातंत्र राजतंत्र में परिवर्तित हो गया है। उसकी भूमिका बदल गई है। और इस भूमिका के बदलने में नेहरू युग का बहुत बड़ा हाथ था। नेहरू ने हर एक आँख से आँसू पोछने की कामना की थी किन्तु दिया आँसूओं का शैलाब। चीन-युद्ध के संदर्भ में नेहरू युग से मोह भंग हआ, तब जनता ने आपातकाल के दौर में प्रवेश किया। और आपातकाल में अधिकारों का हनन किया गया। एक मूल्यहीनता और लोकतांत्रिक मूल्यों (स्वतंत्रता, समानता, बंधुता, न्याय, शिक्षा, जल, बिजली, रोटी, कपड़ा, मकान) का पतन निरन्तर बढ़ता ही गया। परिणामस्वरूप व्यक्ति 'हत्या' और 'आत्महत्या' के बीच विडम्बनापूर्ण स्थिति को लगातार झेलता ही गया, जिसके कारण समाज में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई। कवि का मुख्य उद्देश्य समाज में बढ़ती अराजकता के बीच लोकतांत्रिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करना है। कवि ने काव्य संग्रहों, कहानी संग्रहों, निबंध संग्रहों इत्यादि साहित्यिक मोर्चे से देश के भ्रष्ट प्रशासनतंत्र द्वारा साधारण आदमी पर कितना कहर ढाया गया और ढाया जा रहा है, इसका एक विशाल चित्रपट भारतीय समाज के कैनवस पर अंकित किया। कवि ने ऐसी भाषा की माँग जनता से की है जिसके दो अर्थ न हो अर्थात् जनता की एक भाषा ही जिसका अर्थ एक ही निकलता हो तभी भ्रष्ट प्रशासन एवं राजनीति के वर्चस्व को खत्म या कमजोर किया जा सकता है। बहरहाल रघुवीर सहाय लोकतांत्रिक मल्यों के संरक्षण के लिए संघर्षरत एक ऐसे कवि थे जिन्होंने अपनी अमिट छाप जनता पर छोड़ दी। और यह अमिट छाप उन्होंने खलनायक बनकर नहीं बल्कि लोकतंत्र के सजग प्रहरी के रूप में छोड़ी।

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

आधार ग्रंथ

1. रघुवीर सहाय : 'आत्महत्या के विरूद्ध', काव्य संग्रह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 1967

सहायक ग्रंथ

1. अजय तिवारी : साहित्य का वर्तमान, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2002
2. अभय कुमार दुबे (सं.) : बीच बहस में सेकुलरवाद, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण : 2002
   : लोकतंत्र के सात अध्याय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2005
3. अशोक वाजपेयी (सं.) : कविता का जनपद, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 1992
4. ओम प्रकाश सिंह : आधुनिक काव्यधारा, विचार और दृष्टि, पूर्वांचल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2006
5. कृष्णनारायण कक्कड़ : निराला से रघुवीर सहाय तक, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2002
6. कृष्ण कुमार : रघुवीर सहाय संचयिता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2003
7. कृष्णदत्त पालीवाल : आधुनिक भारतीय नई कविता, सचिन प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण :1990
   : हिन्दी आलोचना के नए वैचारिक सरोकार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2002
8. गोबिन्द प्रसाद : कविता के सम्मुख, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,

संस्करण : 2002

9. जवाहरलाल नेहरू : विश्व इतिहास की झलक, अनुवाद-चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय, सस्ता साहित्य मण्डल, संस्करण-2007

10. जावेद आलम : लोकतंत्र के तलबगार, हिन्दी अनुवाद-अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2007

11. जॉन रीड : दस दिन जब दुनिया हिल उठी, हिन्दी अनुवाद-त्रिभुवन नाथ, पीपुल्स पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, संस्करण : 1983

12. जड़ावलाल मेहता : कवि कर्म और चिंतन, सर्जना के दो आयाम, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 1986

13. तनिका सरकार : जन और जनतंत्र, सम्पादक, रमेश उपाध्याय, शब्द संधान प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2006

14. नगेन्द्र : आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, संस्करण : 1966

15. नन्दकिशोर नवल : कविता : पहचान का संकट, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, संस्करण-2006

16. नामवर सिंह : इतिहास और आलोचना, नया साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-1962

: कविता के नए प्रतिमान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1968

: आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2001

17. निर्मला जैन : आधुनिक साहित्यः मूल्य और मूल्यांकन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004

18. बिपिन चन्द्र : लोकतंत्र आपातकाल और जयप्रकाश नारायण, हिन्दी अनुवाद-एम.ए.खान 'शाहिद' एवं विधि शर्मा, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 2007

19. मनोहर श्याम जोशी : रघुवीर सहाय : रचनाओं के बहाने एक स्मरण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

20. मैनेजर पाण्डेय : साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा हिन्दी अकादमी, चण्डीगढ़, 1989

: शब्द और कर्म, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1997

21. मृदुल जोशी : समकालीन हिन्दी कविता में आम आदमी, क्लासिकल पब्लिशिंग, नई दिल्ली, 2001

22. रामस्वरूप चतुर्वेदी : नई कविताएँ : एक साक्ष्य, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-1997

23. रतन कुमार पाण्डेय : समकालीन कवि : दृष्टि और बोध, अनंग प्रकाशन, दिल्ली, 2002

24. राममनोहर लोहिया : भारत विभाजन के अपराधी, राम मनोहर लोहिया समता विद्यालय न्यास, प्रकाशन विभाग, हैदराबाद, संस्करण-1970

25. रामविलास शर्मा : भाषा, युगबोध और कविता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1982

26. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का साहित्य, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत् 2025 वि.

27. रामधारी सिंह दिनकर : कुरूक्षेत्र, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, तीसरा संस्करण, 1975

28. रमेश उपाध्याय (सं.) : जन और जनतंत्र, शब्द संधान प्रकाशन, दिल्ली, 2006

29. रेने वेलेक एवं वारेन आस्टिन (सं.) : साहित्य सिद्धान्त, हिन्दी अनुवाद-बी.एस. पालीवाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण-2000

30. रघुवीर सहाय : 'हँसो हँसो जल्दी हँसो', नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, संस्करण-1975

31. रघुवीर सहाय (संपादक:अज्ञेय) : 'सीढ़ियों पर धूप में', भारतीय ज्ञानपीठ दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी, संस्करण-1960

32. रघुवीर सहाय : 'लोग भूल गए हैं', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण-1989

: 'कुछ पते कुछ चिट्ठियाँ', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1989

33. रघुवीर सहाय (संपादक : सुरेश शर्मा) : 'एक समय था', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1995

: 'यथार्थ यथास्थिति नहीं', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1994

34. रघुवीर सहाय : 'लिखने का कारण', राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1978

35. विष्णु प्रभाकर : गाँधी, समय, समाज और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2000

36. विष्णु नागर/असद ज़ैदी (सं.) : रघुवीर सहाय, आधार प्रकाशन, हरियाणा, 1993

37. विपिन चन्द्र : समकालीन भारत, अनुवाद, द्वारिका प्रसाद,

चारूमित्र, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2001

38. शोभाकान्त मिश्र : नागार्जुन : चुनी हुई रचनाएँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1983

39. संज्ञा उपाध्याय : नएपन की अवधारणा, शब्द संधान प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2002

40. सुधीश पचौरी : उत्तर आधुनिक साहित्यिक विमर्श, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1996

41. सुरेश शर्मा : रघुवीर सहाय का कवि कर्म, पीपुल्स लिटरेसी, दिल्ली, संस्करण-1981

42. सुरेश शर्मा (सं) : रघुवीर सहाय रचनावली, खण्ड-1,2,3,4,5,6 राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2000

43. सच्चिदानन्द सिन्हा : लोकतंत्र की चुनौतियाँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2005

44. सुभाष काश्यप (सं.) : नेहरू और संसद, लोकसभा सचिवालय, नई दिल्ली, संस्करण-1986

45. सरिता वैद्य : नयी कविता की भाषिक संरचना, हिमांचल पुस्तक भंडार, गाँधीनगर, दिल्ली, संस्करण-1993

46. सियाराम तिवारी : हिन्दी साहित्य, भाषिक परिदृश्य, यश पब्लिकेशन, दिल्ली, संस्करण-2005

47. सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय (सं.) : दूसरा सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, संस्करण-1999

48. सुरेश शर्मा (सं.) : रघुवीर सहाय, प्रतिनिधि कविताएं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2006

49. हरिमोहन शर्मा : उत्तर छायावादी काव्य भाषा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1986

50. Eileen, John (Edited) : Philosophy of Literature : Contemporary and Classic Reading, An Anthology, Blackwell Publishing, USA, U.K, Australia, 2002

51. Julie Rivkin, and Michal Ryan : Literary Theory : An Anthology, Blackwell Publishing, U.S.A., U.K. Australia, 2002

पत्र-पत्रिकाएँ

1. आजकल, सम्पादक-योगेन्द्र दत्त शर्मा, मार्च, 2008
2. आजकल, सम्पादक-योगेन्द्र दत्त शर्मा, अक्टूबर, 2008
3. आऊटलुक, सम्पादक-विनोद मेहता, मार्च, 2009
4. कथादेश, सम्पादक-हरिनारायण, फरवरी, 2009
5. कसौटी, सम्पादक-नन्दकिशोर नवल, अंक-6
6. तहलका, सम्पादक-तरूण तेजपाल, फरवरी, 2009
7. दिनमान, सम्पादक-रघुवीर सहाय, मार्च, 1983
8. नई दुनिया, सम्पादक-आलोक मेहता, फरवरी, 2009
9. प्रथम प्रवक्ता, सम्पादक-रामबहादुर राय, अप्रैल, 2009
10. भास्कर लक्ष्य, सम्पादक-यशवंत, जून, 2008
11. युवा संवाद, सम्पादक-प्रो. कमल नयन काबरा, मार्च, 2009
12. सबलोग, सम्पादक-किशन कालजयी, जनवरी, 2009
13. समयांतर, सम्पादक-पंकज विष्ट, अक्टूबर, 2008
14. समयांतर, सम्पादक-पंकज विष्ट, फरवरी, 2009